श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–विरचित–षोडश–ग्रन्थान्तगता–एकादशी

भक्तिवर्धिनी

चतुर्दशटीकाभिःसमलंकृता

१. श्रीबालकृष्णानाम्
२. श्रीगोकुलनाथानाम्
३. श्रीरघुनाथानाम्
४. श्रीकल्याणरायाणाम्
५. श्रीहरिरायाणाम्
६. श्रीगोपेश्वराणाम्
७. श्रीपुरुषोत्तमानाम्
८. श्रीवल्लभानाम्
९. श्रीजयगोपालभट्टानाम्
१०. श्रीलालुभट्टानाम्
११. केषाञ्चित्
१२. श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णानाम्
१३. श्रीगिरिधराणाम्
१४. श्रीद्वारकेशानाम्

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–वंशावतंस–गोस्वामि श्री १००८–
श्रीगोपीनाथ–महाराजश्रीत्येतैः — प्रकाशिता

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०३

प्रकाशक:

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपीनाथजी महाराज,
बड़ा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, बम्बई-४०० ००२, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दा: ५०३.

ग्रन्थ-परिचय लेखक: गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक:

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चोपाटी बिल्डिंग, चोपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपीनाथजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ---परिचय

चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके भावप्रकाशके अनुसार भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने सांचोरा पुरुषोत्तम जोशीके लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके [1] अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयनकाल वि. सं. १५५२ माना जाता है तथा प्रणयनस्थल प्रयाग, परन्तु भावप्रकाशके अध्ययन करनेपर लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना गुजरातके किसी गांवमें हुई होनी चाहिये :

"तब एक समय श्रीआचार्यजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्यान्हके समय एक तलावपर सन्ध्या करत हुते. तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सन्ध्या-वन्दन करन लागे. सो पुरुषोत्तम जोशीकी ओर कृपा करिके दैवी जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछ्यो– 'महाराज! यह कर्ममारग बड़ो के ज्ञानमारग बड़ो ?' तब श्रीआचार्यजी कहे–'जाके मनमें दृढ़ जो मारग आवे, जामे जाको विश्वास होय, वाके भाये तो वह मारग बड़ो; और बड़ो तो भक्तिमारग है जामें जीव कृतार्थ होई. और ज्ञानमारग कर्ममारग सो कृतार्थ कठिनतासों होई. सो काहूसों निर्वाह होय नाही. काहेते ? कष्ट साध्य है. सो या कालमें शरीरको कष्ट कर्यो न जाई. कोऊ शरीरको कष्ट सहे तो मन ठिकाने रहे. ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही.

"तब पुरुषोत्तम जोशीने कही जो 'महाराज! भक्तिको स्वरूप कहा, कृपा करिके कहिये!' तब श्रीआचार्यजी कहें– 'भक्तिको स्वरूप वर्णन करिये तो पार आवे नाहीं परन्तु कछुक तोकों कहत हों'. तब 'भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थ करि ग्यारह श्लोक पुरुषोत्तम जोशीकों सुनाये. सो यह उत्तम अधिकारी है, ताते सगरो बोध हो गयो."

इस तरह भक्तिवर्धिनी पुरुषोत्तम जोशीके हृदयमें भक्तिके वर्धनार्थ लिखी गई थी, गुजरातमें ही कहीं पुरुषोत्तम जोशीके गांवमें. इसके उपदेशके बाद पुरुषोत्तम जोशी सपत्नीक श्रीमहाप्रभुके अनुयायी हुए; और अव्यावृत्त होकर अपने घरमें कृष्ण-सेवामें तत्पर होगये– "सो दोऊ जन प्रीतिसों सेवा करन लागे. पाछे श्रीआचार्यजी द्वारिका पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशीने बहोत दिन सेवा करी. भगवद्भावमें मगन रहते–अव्यावृत्त होई रहे. काहूके आगे अपने हृदयको भाव प्रकट न करते."

---

(१) श्रीनागरदास बांभनिया लिखित लेख, वैष्णववाणी अंक ४ वर्ष १९७९

भगवद्-गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुन भी भगवान्से ये ही प्रश्न कर बैठा था कि ज्ञानयोग यदि श्रेष्ठ है तो कर्मकी क्या आवश्यकता है; और कर्म यदि आवश्यक है तो फिर ज्ञानयोग किस अर्थमें श्रेष्ठ है. भगवान्ने वहां अर्जुनको समझाया है कि कर्मोंके अनारम्भ या त्यागके कारण ज्ञानयोग श्रेष्ठ नहीं बन जाता. क्योंकि फलासक्ति-रहित कर्म अर्थात् निष्काम-कर्म भी इस दृष्टिसे ज्ञानयोगसे मिलते लाभोंको देनेमें सक्षम है. कर्मके फलोंमें आसक्ति बनी रही तो ज्ञानमार्गीय साधकके नैष्कर्म्यका भी अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं है. कर्मके फलोंके आकर्षणके रहते हुए कर्मका त्याग निरा पाखण्ड है.

भगवान् कहते हैं कि उन्हें, आत्माराम-आप्तकाम होनेपर भी, कर्मत्यागके बजाय लोकसंग्रहार्थ ही सही पर कर्म अधिक सुहाता है. कोई भी ज्ञानी स्वयम् परमात्मासे अधिक निष्काम या आप्तकाम हो नहीं सकता फिर ज्ञानयोगके नामपर कर्मत्यागकी क्या आवश्यकता है !

ज्ञानयोगी हो अथवा कर्मयोगी दोनोंको ही स्वधर्म-स्वकर्मका अनुष्ठान फलासक्तिके बिना करना चाहिये. क्योंकि परधर्मका भलीभांति अनुष्ठान भी स्वधर्मके बिन-भली-भांति किये गये अनुष्ठानसे श्रेष्ठ नहीं है. अर्जुनने इस सन्दर्भमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न भगवान्के समक्ष उपस्थापित किया है. वह पूछता है कि स्वधर्म-पालनकी जब इतनी अधिक महत्ता है तब व्यर्थ लोग कभी स्वधर्मके त्यागद्वारा तो कभी परधर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पापाचरण क्यों करते हैं ?

भगवान्ने इस प्रश्नका विलक्षण उत्तर दिया है कि स्वधर्मत्याग अथवा परधर्माचरण के द्वारा मनुष्य पापोंको बटोरता रहता है, अपने काम और क्रोध के वशीभूत होकर ज्ञानियोंकी ज्ञानाग्नि भी बहुधा कामके धुंएमें घिर जाती है. काम ही ज्ञानियोंका चिरशत्रु होता है.

भगवान्की बात बड़ी अटपटी लगती है कि क्यों केवल ज्ञानमार्गीय साधक ही कामनाओंका शिकार बनता है, कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधक क्यों नहीं ? कामनाओंका आकर्षण तो सभी मार्गोंके साधकोंमें प्रारम्भमें तो रहता ही है या कमसे कम रह सकता है ! परन्तु थोड़ा ध्यानसे देखनेपर पता चलेगा कि हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमशः काम और क्रोधके रूपमें होता है. अतएव भगवान् कहते हैं— "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्." हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है. इसी तरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है.

इन काम तथा क्रोधके रूपोंमें हमारी ममता तथा अहन्ता के राजस विस्फोटसे ध्वस्त होती साधकोंकी साधनाकी सुरक्षाके उपायरूप अनेक मार्ग प्रवृत्त हुए है.

(१) बुद्धने आत्मचेतनाको काम-क्रोधके आवेगोंसे बचानेके लिए इनकी बीजभूत अहन्ता और ममता को ही तोड़ देनेका उपाय सुझाया था. एतदर्थ अनात्मवादपर आधारित 'नाहम्' की भावना तथा विज्ञानवादपर आधारित 'न मम' की भावना को जगानेपर भार दिया गया. मानों हमारी चेतनामें अहन्ता और ममता की ग्रन्थियोंमें यदि क्रोध और कामके व्रण हो गये हों तो उन्हें रुझानेके बजाय इन ग्रन्थियोंकी ही शल्यचिकित्सा कर दी गई. वैदिक शास्त्रोंको यह शल्यकर्म सभी स्थितियोंमें मान्य नहीं था. अतः बुद्धसे पूर्व ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवम् भक्तियोग की प्रणालियोंमें अन्य अघोर एवम् अक्लिष्ट चिकित्सा इनकी सोची गई.

(२) कर्मयोगकी प्रणालीमें अहन्ताको तोड़नेकी परवाह किये बिना ममताको विभिन्न देवताओंसे जोड़नेकी चिकित्सा-प्रणाली अपनायी गई हैं — "अग्नये स्वाहा अग्नये इदं न मम— सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम" इत्यादि. "वित्तं च मे पुत्रं च मे पशुश्च मे" की ममतामयी सकाम-कर्म-वृत्ति वाले साधकोंकी ममताको — "देवतायै इदं न मम" की प्रणालीद्वारा निष्काम-कर्मकी ओर कर्मयोग आगे बढ़ाना चाहता है. स्वयम्के उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता है. अतएव कर्मयोगके निरूपणमें गीता हमें समझाती है :

"कर्म किये बिना कोई रह नहीं पायेगा, अपनी प्रकृतिके अनुरूप विवश होकर कुछ न कुछ कर्म तो सभीको करने ही पड़ेंगे. ऐसी स्थितिमें कर्मेन्द्रियोंको संयत करनेके पाषण्डमें विमूढ़ साधक अपने असंयत मनको इन्द्रियार्थोंके चिन्तनमें डुबा देते हैं. जबकि सच्ची विशिष्टता तो मनसे इन्द्रियोंको संयत करके कर्मेन्द्रियोंसे आसक्तिरहित कर्मयोगको करते रहनेमें है ! अतएव नियत कर्मोंको करते रहना उत्तम है, उन्हें त्याग देनेके बजाय. सर्वथा कर्मत्याग करनेपर तो शरीरयात्रा भी नहीं निभ पायगी. और फिर इस लोकमें वे ही कर्म बन्धनरूप माने गये है, जिनका अनुष्ठान यज्ञकर्मके रूपमें नहीं होता. अतः यज्ञार्थ किया गया कर्म तो असंगभावसे करते ही रहना चाहिये. प्रजापतिने भी प्रजाकी सृष्टि यज्ञके साथ ही की है. अतः यज्ञ ही हमारी सारी कामनाओंको भलीभांति पूर्ण करता है. हमें यज्ञके द्वारा देवताओंको देनेकी वस्तु उन्हें देनी चाहिये और यज्ञभावित देवगण जो हमें मिलना चाहिये वह हमें देंगे. इसी आदानप्रदानमें हमारा परमश्रेय रहा हुआ है. जो देवताओंने हमें दिया है उसमें से जो उन्हे देने लायक है उसे दिये बिना जब हम अपने उपभोगमें लेते हैं तो हम चोर बन जाते हैं. अतएव यज्ञके बाद बची हुई वस्तुओंके उपभोगकी जीवनप्रणालीमें पापस्पर्श नहीं होता हैं. फिर भी जो केवल अपने लिए पकाते हैं और खाते हैं, वे अन्नका नहीं प्रत्युत पापका ही भक्षण करते हैं."

इस विस्तृत उद्धरणके अध्ययनमें स्पष्ट हो जाता है कि कर्मयोग हमारी अहन्ता-

की परवाह अधिक नहीं करना चाहता किन्तु ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है. ममतामें रचे-पचे मनुष्य अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोडी सी धीरज धरके देवताओंको लिए "इदं न मम" कहना सीख पायें तो निष्कामताके मार्गपर आगे बढा जा सकेगा. यही निष्काम-कर्म अन्तमें आत्मसुख या शाश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा. परन्तु अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गमें प्रारम्भिक साधनावस्थामें अहन्ता और राजसगुण के साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पदे-पदे रहती है. कर्मयोग ममताको ही स्वस्थ बनता है.

(३) ज्ञानमार्ग अतः अहन्ताकी चिकित्सा— उसे स्वस्थ बनानेका प्रयास है. कर्मयोगमें जैसे ममताको देवताओंसे जोडा गया था इसी तरह ज्ञानयोगमें हमारी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास करना पड़ता है—"योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि. अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि. अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा" अर्थः मैं जो कुछ हूं—मैं ब्रह्म ही हूं. हां, मैं हूं— मैं ब्रह्म हूं. मैं ही मैं मेरा होम (ब्रह्ममें) करता हूं.

कर्मयोग जैसे प्रारम्भमें—"पुत्रं च मे वित्तं च मे" की कामनाओंसे घिरे सकाम-कर्मकर्ताको निष्काम-कर्मकी ऊंचाईपर उठानेके लिए "इदं न मम" में प्रशिक्षित करता है. वहां यज्ञाग्निमें अपनी ममताकी आहूति देनी पड़ती है. वैसे ही ज्ञान-योग ब्रह्माग्निमें अपनी अहन्ताकी आहूति देना सिखलाता है. ज्ञानयोग हमारे अहंकारकी चिकित्सा है. ध्यान रहे कि 'अहम्' की आहूति ब्रह्माग्निमें देनी है— अपने अहंकार-की धधकती ज्वालाओंमें ब्रह्मकी आहूति ज्ञानयोग नहीं है !

वाक्य उद्देश्य-विधेयभाव-घटित होता है. जैसे "गाय प्राणी है" वाक्यमें 'गाय' उद्देश्य है और 'प्राणी' विधेय है. इसी तरह "अहं ब्रह्मास्मि" में 'अहम्' उद्देश्य है और 'ब्रह्म' विधेय है. अतएव अहमास्पद जीवात्माको ब्रह्म मानना वास्तविक ब्रह्मबोध है; तथा व्यापक अंशी परमात्माके साथ अंशरूप जीवात्माकी अहन्ताको सच्चे परिप्रेक्ष्यमें देखना है. ब्रह्मको उद्देश्य मानकर अहंकारको विधेय बनाना सभी प्राणिओंको गाय माननेके जैसी त्रुटी है. ब्रह्म तो त्वंकारास्पद भी है – "तत्त्वमसि"में और इदंकारास्पद भी है– "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" में. प्राणी तो गाय हाथी और घोड़ा आदि अनेक प्रकारके होते हैं. अतः सभी प्राणिओंको गाय माननेकी जैसी त्रुटी ब्रह्मको अहमास्पद माननेवाले कर बैठते हैं. अंशीको अहम् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह त्वम् भी है और इदम् भी. अहम्को किन्तु अंश होनेके कारण अंशी ब्रह्म कहा जा सकता है. बापके जैसा बेटेका चेहरा होता है बेटेके जैसा बापका नहीं !

अतएव श्रीशंकराचार्य कहते है कि लहरोंको 'समुद्रकी लहरें' कहना चाहिये— समुद्रको 'लहरोंवाला समुद्र' नहीं (सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रस्तारंग इति). किनारोंपर पहुंच कर लहरें अपनी आहूति समुद्रमें दे देती हैं पर भला कभी समुद्रकी आहूति किसी लहरमें दी जा सकती है क्या ?

ज्ञानमार्गी अहन्ताकी चिकित्सापर भार देता है— ब्रह्मके साथ अपनी अहन्ताको जोड़कर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है. परन्तु इस प्रणालीमें ममताकी उपेक्षा हो जाती है और उसी ममताके विकृत होनेपर ज्ञानीके ज्ञानमें कामके व्रण प्रकट हो जाते हैं ! ममताको छोडकर केवल अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास ज्ञानमार्ग है. सफल होनेपर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है और विफल होनेपर "अहं ब्रह्मास्मि" का उद्देश्य विधेयमें बदल जाता है. प्रायः ज्ञानमार्गीय विविदिषुके "अहं ब्रह्मास्मि" के जपमें ब्रह्मके बजाय अहम्पर भार आजाता है और इस महावाक्यका अर्थ बदल जाता है !

कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता ज्ञानमार्गपर दौड़ते हुए साधकको रजोगुणकी गोधूलीकी वेलामें शिष्यैषणा जैसी कामनाओंका रूपधारण कर मोहपाशमें बांध लेती है. अतएव भगवान् कहते हैं– "सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?"

ये दोनों ही मार्ग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के, यात्राकी सफलतापर मुक्तितक पहुंचानेवाले मार्ग हैं, पर अहन्ता और ममता में से एक ही किसीको स्वस्थ करनेके ये अपूर्ण प्रयास होनेसे हमारे काम और क्रोध के रोगोंकी पूर्ण चिकित्सा नहीं करते. भक्तियोग ही हमारी अहन्ता-ममताको पूर्णतया स्वस्थ रखनेकी एकमात्र चिकित्साप्रणाली है— अकठोर मृदु पूर्ण एवम् भयरहित !

(४) 'भक्ति' शब्द भज + क्तिन् को जोड़ने पर बनता है. 'भज' धातुकी प्रकृतिका अर्थ है: सेवा. 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ होता है: प्रेम. अतः 'भक्ति' शब्दका कुल अर्थ होता है: प्रेमके साथ की जानेवाली सेवा.

यह भक्ति हमारी अहन्ता-ममताकी पूर्ण चिकित्सा है. शरणागत पुष्टिजीवको भगवत्सेवामें लगाकर यह उसकी अहन्ताको भगवान्‌के साथ जोड़ देती है– 'सोहम्' की प्रक्रियासे नहीं किन्तु 'दासोहम्' की प्रक्रियासे. सेवा सचाईसे हम उसीकी कर सकते हैं जिसके सामने हमारा अहंकार झुक जाये. पुष्टिप्रभु व्रजाधिप श्रीकृष्णके सम्मुख अपने अहंकारको "श्रीकृष्णः शरणं मम" कह कर अथवा "दासोहं कृष्णस्तव" कह कर झुका देना पुष्टिभक्त या पुष्टिभक्ति की प्रकृतिमें निहित अर्थ है. अहंकारके झुकते ही तनको भी झुकना पड़ेगा. अतएव सिद्धान्तमुक्तावलीमें तनुवित्तजा सेवा तथा सिद्धान्तरहस्यमें सर्वसमर्पण की बात समझा कर चतुःश्लोकीमें व्रजाधिपके भजनको ही स्वधर्म माना गया हैं.

संस्कृत भाषाका एक नियम है कि प्रत्येक शब्दके घटक प्रकृति और प्रत्यय अपने-अपने अर्थका बोध एकसाथ ही पैदा करते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं. फिर भी प्रत्ययके अर्थकी कुछ प्रधानता होती ही है. 'क्तिन' प्रत्ययका अर्थ प्रेम भी 'भक्ति' शब्द के दूसरे घटक 'भज' धातुके अर्थ सेवाकी तुलनामें कुछ प्रधानता लिए हुए है. प्रेम होता है किसीके प्रति मनके झुकनेपर. मन जहां झुका कि ममता भी उस ओर मुड़ने लगेगी.

हमारी ममताके श्रीकृष्णके साथ जुड़नेकी बात चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें सिद्धान्त-मुक्तावलीमें समझायी गई है. चतुःश्लोकीमें श्रीकृष्णके प्रति अपनी ममताको मोड़नेकी क्रियाको ही पुष्टिमार्गीय काम कहा गया है. वही काम– वही कृष्णदर्शन- कामना 'भक्ति' शब्दमें 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ है.

चतुःश्लोकीमें भजन और स्मरण के निरन्तर चक्रकी तरह चल पड़नेकी क्रियाको मोक्ष माना गया है (स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मतिः). अपरोक्षमें भजन या कायिकी सेवा हमारी अहन्ताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. परोक्षमें स्मरण या हमारे चित्तकी कृष्ण-तन्मयता हमारी ममताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. पुष्टिभक्त न तो अपनी अहन्ता या ममता को देह या विषयों में मुक्त छोड़ता है; और न उन्हे तोड़ता ही है. क्योंकि तोड़ना आवश्यक नहीं है. पुष्टिभक्त अपनी अहन्ता एवम् ममता को व्रजाधिप श्रीकृष्णके साथ जोड़ता है. जिस दिन—जिस क्षण ये दोनो भलीभांति श्रीकृष्णके साथ जुड़ जाती हैं, उसी दिन पुष्टिजीव मुक्त हो जाता है. इससे अधिक और कोई मतलब मुक्तिका पुष्टिजीवके लिए नही होता.

हमारी अस्वस्थ अहन्ता-ममताकी क्लेशरहित, सम्पूर्ण एवम् शुभ चिकित्सा भक्ति है. अतएव श्रीमहाप्रभुने पुरुषोत्तम जोशीको समझाया था कि "ज्ञानमारग अरु कर्म-मारग सों कृतार्थ कठिनतासों होई . ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाहीं..."

जब भक्ति ही हमारे संसार-रोगकी पूर्ण चिकित्सा है तो भक्तिरसायनके अनु-पानको ही क्यों न बढ़ाया जाये ! वस्तुतः तो भक्तिको औषधी मानना भी भक्तिकी पूर्ण महत्ताका विवरण नहीं है. क्योंकि भक्ति पुष्टिजीवके लिए औषधीसे कहीं अधिक स्वयम् स्वास्थ्य ही है. परमात्माके प्रति जीवात्माकी भक्ति न होना जीवात्माके अस्वा-स्थ्यका लक्षण है. पुष्टिप्रभु व्रजाधिप श्रीकृष्णके प्रति पुष्टिजीवका पुष्टिभक्तिके भावसे रहित होना भी उसकी अस्वस्थताका लक्षण है. गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिपर अतएव भगवान् भी कहते हैं– "मुझे कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तपस्वी साधकोंमे जो योगी हैं वे अधिक मान्य लगते हैं. योगियों में भी श्रद्धापूर्वक जो अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ जोड़ करके मेरा भजन करते है वे मुझे सभीमें युक्ततम लगते हैं."

इस जगतमें आहार-विहारकी जिन अनियमितताओंके कारण हम अपनी अहन्ता-ममताको अस्वस्थ बना लेते हैं, उनसे बचनेके लिए श्रीमहाप्रभुका स्वास्थ्यवर्धक उपदेश 'भक्तिवर्धिनी'को सुनना समझना और हृदयमें धारण करना अत्यावश्यक है :

भगवान्के अनुग्रहके कल्पतरुसे लिपट कर ऊपर उठनेवाली भक्ति-कल्पलताकी वृद्धिके उपायोंको जानना अतः आवश्यक है.

भक्ति उस जीवात्मामें प्रकट होती है जिसका भगवान् भक्तिके लिए वरण करते हैं. अपनी भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा किया गया जीवात्माका वरण जीवात्मामें बीजभावके रूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है. सत्संग गुरुकृपा या शास्त्रतात्पर्य-निर्णय के अनुकूल वातावरणमें कभी वह अंकुरित हो पाता है और कभी नहीं. श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि स्वयम् परमात्मा इस एकान्तभक्ति या व्रजभक्ति के बीजको बोता है— सत्संग एवम् गुरुकृपा के जलसे उसे सींचता है– अपने अनुग्रह-कल्पतरुका सहारा देकर उसे ऊपर उठाता है— उसपर उगनेवाले पुष्प-फलोंकी रक्षा भी एक सावधान मालीकी तरह वह स्वयम् ही करता है– तब इस भक्ति–कल्पलताका नष्ट होना या मुरझा जाना, उसे कैसे पसन्द आयेगा ? अतः पुष्टिभक्तिका बीजभाव अनश्वर बीज-भाव है. जन्म-जन्मान्तों तक यह नष्ट नहीं होता. एक-एक जन्म ऋतुचक्रकी तरह आते और जाते रहते हैं— किसी ऋतुमें किसी लतापर फूल खिलते हैं और किसी ऋतुमें नहीं. इसी तरह भक्तिका बीजभाव भी किसी जन्ममें प्रेमके रूपमें अंकुरित हो पाता हैं और किसी जन्ममें नहीं.

भक्तिकी यह कल्पलता बढ़कर इतनी सघन हो जाये– पुष्टिके कल्पतरुके इर्द-गिर्द इतनी फैल जाये कि दोनोंके पल्लवोंको पृथक् करना कठिन हो जाये– पुष्टिकल्प-तरु और भक्तिकल्पलता के पल्लव परस्पर मिलकर पुष्टिभक्तिके रूपमें दिखलाई देने लग जायें— ऐसा उपाय श्रीमहाप्रभु हमें दिखलाना चाहते हैं लता जब वृक्षपर भलीभांति दृढ़तासे लिपट जाती है— फैल जाती है – तब उसके नष्ट होने या मुरझा जाने का भय कम हो जाता है. इसे ही 'बीजभाव की दृढ़ता' कहा गया है.

दृढ़ बीजभाव तथा अदृढ़ बीजभाव वाले जीवोंके लिए भक्तिकी फलात्मिका वृद्धिके उपाय :

अपनी प्रेमसेवात्मिका भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा समारोपित वरणका बीजभाव जिन जीवात्माओंमें दृढ़ हो जाता है वे तो निःशंक श्रवण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी भगवान्की मानसी सेवामें सर्वदा मग्न रह सकते हैं. अतः ऐसे भक्त गृहत्याग भी कर सकते हैं. परन्तु जिन भक्तोंका बीजभाव ही दृढ़ न हो उन्हें गृहत्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने घरमें रहते हुए ही भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा में अपने-आपको तत्पर बनाना चाहिये. तभी बीजभाव दृढ़ होगा.

भक्तिके तीन भेद होते हैं :

१) भगवत्स्वरूपका बाह्य भजन
२) भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन
३) भगवन्नामात्मक भागवतका श्रवण-चिन्तन-कीर्तन

बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम् ।
नाम्नि चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः ।।

जिसका बीजभाव दृढ़ हो गया हो अर्थात् पुष्टिभक्ति भगवत्प्रेमके रूपमें अंकुरित, भगवदासक्तिके रूपमें पल्लवित तथा भगवद्-व्यसनके रूपमें फलित होने लग गई हो तो

ऐसे भक्तको भगवद्-व्यसनके स्वभाववश ही भगवान्‌के विरहकी तीव्र अनुभूतिमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्णित मानसी सेवा अर्थात् भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन सिद्ध हो जाता है. और एक कदम आगे बढ़नेपर सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आसक्तिभ्रम-न्यायसे सभी इन्द्रियोंका भगवान्‌में विनियोग भी सिद्ध हो जाता है. ऐसे भक्तोंके लिए सर्वत्र भगवद्-भाव प्रकट हो जाता है. घर और बाहर का भेद लुप्त हो जाता है— वे घरमें बैठे हुए हों या बाहर, उनके मन और उनकी सभी इन्द्रियों से निरन्तर भगवान्‌की अनुभूति चलती रहती है. फलस्वरूप आसकरणदासजी (दृष्टव्य २५२ वार्ता) की तरह उनका घरमें रहना अनिवार्य नहीं रह जाता है. वे गृहत्याग कर सकते हैं— भगवल्लीलाओंका श्रवण, भगवान्‌के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओंकी भावना तथा उनके कीर्तन की मस्तीमें; या कभी भगवद्-विरहके तीव्रतापमें ऐसे भक्त कब घरको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं यह उन्हें स्वयम् भी मालूम नहीं पड़ता ! (विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते. सन्यास-निर्णय).

सर्वनिर्णय– निबन्धमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि केवल श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानकर—आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोंका त्याग कर— श्रीकृष्णके विभूतिरूप सभी देवताओंका सन्मान करते हुए— देहपातपर्यन्त केवल श्रीकृष्णमें ही अपने मनको जो एकाग्र कर पाते हैं– उनकी वाणीका और कायाका श्रीकृष्णमें विनियोग हो पाये या नहीं— उनके मनकी एकाग्रता स्नेहमयी बन पाये या नहीं– उन्हें श्रीकृष्णमें सायुज्यका लाभ अवश्य ही मिल जाता है. पर भगवत्प्रेमके प्रबल प्रवाहके कारण दारा-आगार-पुत्र आप्त-प्राण-वित्त-आदिमें जिनकी ममताकी दीवार ढह जाती है और जो स्वयम् भी उस प्रबल प्रवाहके वेगसे घरके बाहर फिक जाते हैं– ऐसे भक्त व्यसनदशाके परम-भावोंकी भंवरोंमें घिर जानेसे पुनःपुनः डूबते और उभरते रहते हैं ! करोडों भक्तोंमें कभी-कभाक एकाद ही कोई ऐसा कृष्णव्यसनी बन पाता है! !

बीजभावकी ऐसी दृढ़ताके अभावमें गृहत्याग श्रेयस्कर नहीं होता. अतः पहले बीजभावके दृढ होने तक धीरज रखनी चाहिये.

त्याग और वैराग्य भगवदनुरागकी तीव्रताके कारण प्रकट होते हों तो उन्हें स्वस्थ एवम् सरस मानना चाहिये. अन्यथा संसारमें केवल दोषदृष्टिके कारण जो वैराग्य पनपता है वह नीरस एवम् शुष्क, अतएव अस्वस्थ भी होता है. ऐसे अस्वस्थ वैराग्य-वश व्यर्थ ही किसी भी वस्तुके त्याग कर देनेके बजाय उसे भगवान्‌को समर्पित कर देना चाहिये. हमारी अहन्ता और ममता के विषयोंको त्यागनेके बजाय उन्हें श्रीकृष्णको समर्पित कर श्रीकृष्णकी सेवामें उपयोग लानेवालेका बीजभाव दृढ़ हो सकता है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें स्वधर्म–भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा-मय जीवनयापन करनेवालेका बीजभाव दृढ होता है : "बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः"

स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवाके विषयमें शास्त्रार्थ प्रकरणमें एक विलक्षण बात श्रीमहाप्रभुने समझायी है कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी चाहनासे भक्ति करनेवालोंको यह समझना चाहिये कि साध्य मोक्षके बजाय साधन भक्ति अधिक श्रेष्ठ हैं. जो जीव मुक्त होते हैं वे देहेन्द्रियादिके संघातको छोडकर ही मुक्त हो पाते हैं – उनकी केवल आत्मा ही परमात्मामें लीन हो पाती है. जबकि भक्तोंके तो देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण गृह परिवार आदि सभी कुछ उनके घरमें विराजते प्रभुकी सेवामें काम आते हैं. भक्तका तो संसार भी ब्रह्मात्मक हो जाता है. फलतः जीवन्मुक्तिके बजाय भक्तके लिए तो भगवत्कृपाके साथ गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठतर होता है. अतः बीजभाव दृढ़ करनेके लिए यह आवश्यक है कि घरमें स्वधर्माचरणको निभाते हुए अव्यावृत्त होकर भगवद्-भजन करना चाहिये.

घरमें रहना है तो स्वधर्माचरणका त्याग सम्भव नहीं, पर स्वधर्मकी व्याख्या भी सरल नहीं है. 'स्वधर्म' का प्रथम अर्थ होता है : स्वयम्‌के वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप यथाशक्ति शास्त्रविहित आचरण करना. शक्ति रहनेपर स्वधर्माचरणमें संकोच नहीं करना चाहिये. क्योंकि जब तक यह देह है और इस देहके साथ हमारी अहन्ता-ममता जुड़ी हुई है, तब तक वर्णाश्रम धर्म ही स्वधर्म है— भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म की तरह हो जाता है. जब देहाभिमान शिथिल होने लग जाये तभी भगवद्दास्य या भगवत्सेवा आत्मदृष्टिसे स्वधर्म बन जाती है. तब वर्णाश्रमधर्म भी परधर्म बन जाता है (सुबो. ३–२८–२), अतः इस देहाभिमान और आत्माभिमान के अति कोमल और जटिल विवेकके साथ वर्णाश्रम-धर्मका निर्वाह करते हुए कृष्णभजनमें तत्पर रहना चाहिये. कृष्णभक्तिमें जैसा कि हम देख चुके हैं अहन्ताको स्वस्थ करनेका उपाय कायिकी सेवा 'भज' धातुका अर्थ हैं; और ममताको स्वस्थ करनेका उपाय चित्तको कृष्णप्रेम-प्रवण बनना है. तदनुरूप अपरोक्षमें पूजा कायाको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है. और परोक्षमें श्रवण-चिन्तन-कीर्तन मनको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है.

स्नेहकी दृढ़ताके बिना कायासे प्रेमसेवा न भी निभ पाये पर माहात्म्यज्ञानको निभाते हुए पूजा तो निभाई जा सकती है. पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थमें इसी पूजाको— "प्रवाहेण क्रियारताः" कह कर व्यक्त किया गया है. सर्वनिर्णयमें २२७ वीं कारिकासे लेकर २४६ वीं कारिका तक भजनके इसी क्रियापक्षका निरूपण किया गया है. यहीं "एतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्" कहकर गार्हस्थ्यमें इसकी आवश्यकता दिखलायी है. यहीं २४० वीं कारिकामें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि श्रवण–कीर्तन आदि द्वारा जब हरि हृदयमें निविष्ट हो जाते हैं तभी पूजाका निर्वाह निर्व्यग्रतया सम्भव हो पाता है. अतएव पूजाको यदि केवल क्रियारूप ही न रहने देना हो तो, श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्‌के स्वरूप गुण एवम् लीलाओंके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीमें, उसे प्रेममय बनाना होगा (प्रेम्णोन्यत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत् श्रीभागवतमेवात्र परं

तस्य हि साधनम्. सर्वनिर्णय) अन्यथा प्रेमरहित क्रियासे बहुधा व्यग्रता उत्पन्न होती ही है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं–"सप्रेम इत्यनुद्वेगार्थम्" (सर्वनिर्णय २३०). भगवान्‌की पूजा करते समय अनन्य भाव नहीं जग पाया तो हम अव्यावृत्त होकर भजन नहीं कर पायेंगे–भक्तिके बजाय व्यर्थ ही मानसिक व्यग्रता बढा लेंगे.

भक्तिमार्गीय जीव अव्यावृत्त भी हो सकते हैं और व्यावृत्त भी. अतः दोनों तरहके जीवोंमे भक्तिके बीजभाव की दृढताके उपाय भी श्रीमहाप्रभुने दिखलाये हैं.

अव्यावृत्त और व्यावृत्त अधिकारियोंकी भक्तिके बीजभावोंको दृढ करनेके उपाय :

सभी इन्द्रियों और मन की अहमहमिकता ('पहले मैं–पहले मैं' की उतावल) से भगवान्‌के कार्योंमें जुट जानेकी अर्थात् सेवामें तत्पर होनेकी वृत्ति हमारी अहन्ताका भगवान्‌में विनियोग है. एतदर्थ अनन्यभाव आवश्यक होता है. 'भाव' का अर्थ होता है: हमारे अन्तःकरणमें निहित रुचि या अभिप्राय. वह यदि केवल भगवान्‌के ही बारेमें हो तो उसे 'अनन्यभाव' कहते हैं. अन्यथा (१) किन्ही अन्य देवताओंके बारेमें (२) अन्य लौकिक वस्तु या व्यक्तिके बारेमें, अथवा (३) पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलके बारेमें, हमारे हृदयकी रुचि या भावना के प्रबल होनेपर हमारी कृष्णभक्ति अनन्य-भावात्मिका नहीं बन पायेगी.

'अनन्य भाव'वाले भक्त ही अव्यावृत्त हो पाते हैं. जिनकी भक्ति अनन्यभावात्मिका नहीं हो पाती वे अव्यावृत्त नहीं हो पायेंगे. अन्यान्य भाव हमारे देह और अन्तःकरण को व्यावृत्त बनाये रखेंगे — वे अपनी पूर्तिकी कामनाके भावोंका हमारे भीतर पैदा करके हमें व्यावृत्त बना देंगे — हमसे अव्यावृत्तिमय भजन सम्भव न हो पायेगा. ऐसी स्थितिमें पुष्टिभक्तिमार्गपर चलनेके बुद्धिगत निर्णयके बावजूद भी हृदय इन पूर्वोक्त अन्यभावोंकी पूर्तिके प्रयासमें यहां-वहां भटकता रहेगा — व्यावृत्त रहेगा. ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्णकी पूजा या कायिकी सेवा करते रहनेपर भी वह सेवाफलमें दिखलायी गयी – भोग, उद्वेग और प्रतिबन्धों से रहित सेवा नहीं हो पायेगी. फलस्वरूप चित्तमें वह व्यग्रता बढानेका ही कारण बनेगी.

श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है कि पूर्वोक्त देवतान्तर, पदार्थान्तर, मार्गान्तर या फलान्तर के कारण जिनके देह और अन्तकरण बाह्य और आन्तर रूपमें व्यावृत्त न हों ऐसे जीवोंको भगवत्पूजा और भगवत्कथा दोनोंमें ही तत्पर रहना चाहिये. पर जिनके देह या अन्तःकरण किसी न किसी तरह व्यावृत्त हों उन्हें कृष्णसेवाका अनुष्ठान सहसा प्रारम्भ नहीं करना चाहिये. प्रारम्भमें केवल भगवत्कथाके श्रवण चिन्तन एवम् कीर्तन की प्रणालीसे चित्तको अनन्यभाव-युक्त अव्यावृत्त बनाना चाहिये (...भावान्तरस-हितो वा. स हि देवतान्तरविषयः पदार्थान्तरविषयः मार्गान्तरविषयो वा. तत्सहभावोत्र निषिध्यते फलभावश्च. सुबो. ३-२५-२२). इस सुबोधिनीकी भागवतकारिकामें भक्तिका स्वरूप यों दिखलाया गया है :

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवा: ।।
मदाश्रया: कथामृष्टा: श्रृण्वन्ति कथयन्ति च ।
. . . .
त एते साधव: साध्वि ! सर्वसंगविवर्जिता: ।
संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य: संगदोषहरा हि ते ।।
(भाग. ३।२५।२२-२४)

व्याख्या : जो भगवान्‌में अनन्यभाव रखते हुए भगवान्‌की दृढ भक्ति करते हैं, जिन्होंने आलस्यवश नहीं किन्तु भगवदर्थ वेदादिशास्त्रोक्त अलौकिक कर्मोंका तथा लौकिक स्वजन–बान्धवोंका त्याग कर दिया हो, ऐसे भक्तोंकी संगति करनी चाहिये. निरन्तर भगवत्सेवा अथवा भगवत्स्मरण में सभी कर्म तथा सम्बन्ध बाधक बनते हैं– अनन्यभावमें कुछ न कुछ बाधा पहुंचाते ही हैं. अतः इनसे अव्यावृत्त हुए बिना पूजा-श्रवणादिमें तत्पर होना चाहिये. सभी अधिकारियोंमें किन्तु ऐसी स्वरूपासक्ति सम्भव नहीं है. फलतः कथासक्ति– भगवान्‌के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण और कथन में आसक्ति– जिनकी दृढ हो ऐसोंका सत्संग करना चाहिये. ऐसे भगवदीयोंके सत्संगसे— उनके मुखसे कथाश्रवण करनेसे तथा स्वयम् भी चिन्तन-कीर्तन करनेसे लौकिक विषयोंसें ममता हटकर भगवान्‌से जुड पायेगी.

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि जो व्यावृत्त हैं उन्हें स्वरूपभजनके बजाय नाम-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. इसी श्रवण-चिन्तन-कीर्तनकी प्रणालीद्वारा उनका बीज-भाव प्रेम-आसक्ति-व्यसनकी अवस्थाओंमें विकसित हो पायेगा.

बीजभावको दृढ हुआ तभी समझना चाहिये जब हमारे देह और अन्तःकरण की व्यावृत्ति देवतान्तर पदार्थान्तर मार्गान्तर एवम् फलान्तर के बारेमें न्यूनसे न्यूनतर होती हुई सर्वथा समाप्त हो जाये. घरमें भगवत्सेवा जिनसे नहीं निभ पाती परन्तु भगवत्कथाके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीसे जो अपनी भक्तिके बीजभावको दृढ करनेके लिए आगे बढते हैं, उन्हें इस यात्रामें ये क्रोशस्तम्भ (mile'stone) अपने भक्तिके मार्गपर मिलेंगे :

(क) जब बीजभाव भगवत्स्नेहके रूपमें अंकुरित हो जाता है तब गृहस्थका अपने घर-परिवारमें रहा अनुराग खतम हो जाता है. यह अवस्था बड़ी विलक्षण है. भगवान्‌में अनुराग बढने लगा तो भगवद्-भक्तिमें अनुपयोगी प्रत्येक वस्तुमें घर-परिवार आदिमें अनुराग घटने लगेगा.

जो अव्यावृत्त होकर अपने घरमें भगवत्सेवार्थ निवास करते हैं उनका अनुराग नष्ट होना आवश्यक नहीं है. क्योंकि उनका घर उनकी अहन्ता-ममताको सन्तुष्ट करनेके

लिए नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवाका स्थल – भगवन्मन्दिर ही होता हैं. उनका परिवार भी सांसारिक ममताके बन्धनसे बंधा हुआ नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवा करनेवाले विभिन्न सेवकोंका भक्तिके बन्धनमें बंधा हुआ परिवार होता हैं. अतः बीजभाव प्रेमात्मना अंकुरित होता है पर दूसरी ओर रागविनाश नहीं होता.

(ख) भगवत्कथामार्गसे बीजभावको दृढ़ करनेकी दिशामें आगे बढ़नेवाले यात्रीको द्वितीय क्रोशस्तम्भ भगवदासक्तिका मिलेगा. जैसे ही भगवदासक्ति सिद्ध हुई कि अपने घर-परिवारमें जो अनुराग खण्डित हुआ था वह अब घर-परिवारमें अरुचिका रूप धारण करने लगेगा. भगवदासक्त भक्तको यह प्रतीत होने लगेगा कि मेरे घर और परिवार न केवल मेरी कृष्णभक्तिमें अनुपयोगी हैं बल्कि ये मेरी कृष्णासक्तिमें किसी न किसी तरह बाधा पहुंचानेवाले हैं. बस यही मनोभाव उसमें अपने घर-परिवारके प्रति अरुचि जगा देता है. अभी तक अपने घर और घरमें रहने वाले जिन माता-पिता पति-पत्नी पुत्र-पुत्री या बन्धु-बान्धवों को वह अपना मान बैठा था अब उसे लगेगा कि ये मेरे सगे नहीं है. क्योंकि श्रीकृष्णके प्रति मेरे हृदयकी आसक्तिमें ये अपना हिस्सा बांटना चाहते हैं. प्रत्येक सदस्य अपने परिवारके दूसरे सदस्यकी अपनेमें स्वाभाविकतया आसक्ति चाहता ही है. यही मांग भगवदासक्त भक्तको अरुचिकर लगने लगती है.

परन्तु अपने घरमें कृष्णसेवा करनेवाले भक्तमें भगवदासक्ति तो प्रकट होती है पर घर-परिवारमें अरुचि प्रकट होनेका कोई कारण नहीं होता.

(ग) तीसरा क्रोशस्तम्भ भगवत्कथा-प्रणालीसे भक्तिमार्गपर आगे बढ़नेवाले यात्रीको व्यसनदशाका मिलता है. यहां तक पहुंचनेवाले भक्तकी दशा बड़ी विकल हो जाती है. अब वह भगवान्के बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता. भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता हुआ, भगवान्के गुणोंका स्मरण करता हुआ तथा भगवान्की विविध लीलाओंके मनोरथपर सवार भक्तका मन अब अपने भक्तिके पथपर लेशमात्र रुकावट या व्यवधान सहन नहीं कर पाता. वह असहिष्णु बन जाता है. उसे श्रीकृष्णका व्यसन हो गया समझ लेना चाहिये !

यही वह अवस्था है जहां पहुंचते ही भक्तको यह समझमें आ जाता है कि "गृहस्थितेरुत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थितया भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्थातव्यम्" अर्थ : स्वयमूका भगवदीय होना घरमें रहनेका स्वस्थ हेतु नहीं है किन्तु भगवान्के साथ रहना अथवा भगवत्सेवार्थ रहना ही उत्कृष्ट हेतु है, अन्यथा गृहत्याग ही उचित होता है (सुबो. ३।१।२). एकदिन अचानक भक्तके अन्तःकरणमें ऐसा आवाज आनी शुरू होती है– फिर तो स्वयम् उसे भी पता नहीं चलता कि वह कब घरके बाहर हो गया ! इस अन्दरसे उठती आवाजको अनसुनी करनेमें वह समर्थ हो पाये तो समझ लो कि वह अटक गया या भक्तिपथसे कहीं भटक गया है ! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं– "तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकं त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानसः लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽभ्यधिकां पराम्'?

कथाप्रणालीसे व्यसनभाव सिद्ध होते ही घरसे बाहर निकल जाना श्रेयस्कर होता है. अन्यथा व्यसनदशामें फलित होनेवाला बीजभाव भी सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य में परिपक्व नहीं हो पायेगा. ऐसे घरमें रहनेसे क्या लाभ जो कृष्णभक्तिका अंग न हो ?

यह गृहपरित्याग कृष्णव्यसनके आवेशमें कृष्णके विरहके कारण होनेवाला परित्याग है. जगतमें पैदा हुई दोषदृष्टिके कारण किया गया अस्वस्थ नीरस-शुष्क त्याग नहीं, किन्तु श्रीकृष्णमें वृद्धिंगत हुई प्रेमदृष्टिसे विवश होकर किया गया सरस प्रेमपूर्ण स्वस्थ त्याग है. सर्वनिर्णयमें इस गृहत्यागके बाद एकाकी निस्पृह शान्तभावसे– कहीं रुके बिना– देहपातपर्यन्त निरन्तर तीर्थाटनका क्रम श्रीमहाप्रभुने समझाया है. यात्रा तीर्थोंकी करनी हैं न तो पुण्यकी खोजमें और न मोक्षकी खोजमें ही किन्तु श्रीकृष्णकी खोजमें– "कृष्ण एवं तात्पर्यं न तु तीर्थादौ. देहपातनपर्यन्तं च पर्यटनम्'.'

प्रेमके इस कठिन त्यागमार्गपर जो चलनेका साहस नहीं जुटा पाते परन्तु घरसे निकल पड़नेकी जिनकी तैयारी हो ऐसे भक्तोंको सहसा दुःसाहस नहीं करनेकी सलाह श्रीमहाप्रभु देते हैं.

इस त्यागमार्गपर चलते हुए जरा चूके कि भक्तिहीन गृहस्थसे भी अधिक नीचे गिर पड़नेकी भीति रहती है. गृहस्थमें तो पुत्रैषणा वित्तैषणा या लोकैषणा के दोष रह सकते हैं परन्तु त्यागीमें कहीं संसारी जीवोंके संसर्गसे शिष्यैषणा जग गई तो सारा त्याग चौपट हो जायेगा ! पुत्र वित्त और लोक तीनोंकी वासना शिष्यसंग्रहकी वासनामें सूक्ष्मतया त्रिगुणित हो जाती हैं !!

घरसे बाहर निकलनेके बाद भी त्यागी भक्तका संसर्ग तो संसारी और भगवद्विमुख लोक के साथ टूट नहीं पायेगा. भगवान्को अनिवेदित अन्न अथवा पञ्चमहायज्ञ न करनेवाले गृहस्थका अन्न खाकर अन्नदोषवश ही अधःपातकी सम्भावना अधिक रहती है. अतः सर्वथा असंग और अपरिग्रह होनेके साथ जब तक व्यसनदशा प्राप्त न हो तबतक त्याग श्रेयस्कर नहीं होता. केवल भगवत्प्राप्तिकी कामना हृदयमें रहे और सारी कामनायें निःशेष हो जायें तभी त्यागमार्गपर आरोहण करना चाहिये.

स्वगृहत्याग और हरिगृहवास

कथाप्रणालीद्वारा प्रेमासक्तिव्यसनकी क्रमिक अवस्थाओंमें जब बीजभाव दृढ़ हो रहा हो और घरमें भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तब ऐसे घरमें रह पाना भगवदीयके लिए अशक्य हो जाता है. पर भक्तिमार्गीय सन्यासग्रहण करनेके लिए भी यदि भक्त अपने-आपको समर्थ न पाता हो तो क्या करना चाहिये ?

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि ऐसे व्यक्तिको ऐसे हरि-स्थानोंपर जाकर बस जाना चाहिये जहां भगवत्सेवापरायण भक्तगण निवास करते हों (उदाहरणतया व्रज, चोरासी बैठक, नाथद्वारा, जगदीश, श्रीरंग, पंढरपुर, द्वारका, तिरुपति इत्यादि). इन भगवत्सेवा-परायण भक्तोंकी सेवामें परिचर्या अर्थात् सहायक बननेका अवसर मिले तो सबसे अच्छी बात है अन्यथा इनके सत्संगका लाभ तो लेना ही चाहिये.[1]

इन भगवदीयोंके साथ रहनेका तात्पर्य यही हैं कि जब वे भगवत्सेवामें रत हों तो हम भी उनकी भगवत्सेवामें सहायक बन कर कुछ भगवत्परिचर्या कर पायें. सेवाके वहिरंग साधनोंको सम्पादित करनेमें उन्हें सहयोग दें पायें और इस तरह तनका सेवामें विनियोग हो. यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्जित तनुजा-सेवा नहीं है, यह तो एक पुष्टि-मार्गीय-सम्बन्धमें बंधनेवाले एक व्यापक परिवारकी भावना है. एक परिवारमें पिता भगवत्सेवा--अंतरंग--सेवामें परायण हो तो पुत्र भगवत्परिचर्यामें बहिरंगसेवामें परायण होता है. पत्नी सेवा करती हो तो पतिको परिचर्या करनी चाहिये. इसी तरह जन्मना एक परिवारके न भी हों पर पुष्टिमार्गमें जिन दो भक्तोंको एक परिवारकी तरह साथ रहना हो तो एक अपने घरमें विराजमान प्रभुकी अन्तरंगसेवामें तत्पर रहे और दूसरा बहि-रंगसेवामें. यह अनुज्ञा श्रीमहाप्रभु देना चाहते हैं. साथमें भगवत्सेवा करेंगे तो साथमें भगवत्प्रसाद भी लिया जा सकता है. यह अति उदात्त भावनापर अवलम्बित होता है. सवैतनिक तनुजासेवा अथवा उदरपूर्तिके हेतुसे नहीं. वह तो सिद्धान्तमुक्तावलीमें ही वर्जित किया जा चुका है.

इसमें एक सावधानी किन्तु अपेक्षित है कि न तो इतने अधिक समीप जाना चाहिये किसीके कि एकको दूसरेके दोष दिखलायी देने लगे और न इतने दूर ही रहना चाहिये कि एक भगवदीय द्वारा की जाती भगवत्सेवा या भगवत्कथा के लाभसे दूसरा भगवदीय सर्वथा वञ्चित ही रह जाये (अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति).

अपने घरको छोडकर निकल जानेवाला भक्त भी इस तरह भगवत्सेवापरायण भगवदीयोंके साथ उनके हरिगृहमें वास करते हुए यदि भगवत्सेवा और भगवत्कथा को निभा पाता है तो कभी उसका नाश नहीं होगा. यदि एक भगवदीयकी दूसरे भगवदीयके साथ इतनी घनिष्ठता न भी पनपे कि दोनों साथ मिलजुलकर भगवत्सेवा कर पायें तो भी दोनों साथ मिलकर भगवत्कथा तो कर सकते ही हैं. इस तरह यदि अपने घरको छोड़ दिया हो पर दुःसंगसे बचना हो तो पुष्टिमार्गीय अन्य भगवदीयका सत्संग प्राप्त करते हुए भगवत्कथाका भी आश्रय जो निभा पाते हैं उनका भक्तिमार्गसे अन्यत्र अधःपात नहीं होगा (सेवायां कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम).

इस तरह अन्यत्र जा कर सत्संग करनेके बजाय घर छोड़कर कहीं एकान्तमें बसनेमें क्या बुराई है ? श्रीमहाप्रभुका उत्तर यही है कि जब घर छोड़नेमें भय नहीं तो भगवदीय के सत्संगमें भय कैसा ? और यदि इस तरह सत्संग करते हुए भी मार्गसे भटक जानेका जिसे भय हो उसे एकान्तवाससे अधिक भयभीत होना चाहिये !

कुल मिलाकर बात इतनी ही है कि अदृढ बीजभाववाले भक्तके लिए बीज-भावको दृढ करनेका उत्तम उपाय स्वयम्के घरमें अव्यावृत होकर भगवत्सेवा और भगवत्कथा में तत्पर हो जाना है, वह शक्य न हो तो केवल भगवत्कथामें परायण होकर बीजभावको दृढ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये. जब संसारासक्ति कम हो जाये तब या तो भक्तिमार्गीय सन्यास लेना चाहिये, व्यसनदशा सिद्ध होनेपर, अन्यथा अन्य भगवदीयोंके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिचारक बनना चाहिये. वह भी शक्य न हो तो ऐसे सेवा-कथा-परायण भगवदीयोंके सत्संगका लाभ लेनेको न तो उनसे अधिक दूर और न उनके अधिक समीप ही रहनेका प्रयत्न करना चाहिये. एकान्तवास ऐसी स्थितिमें बहुत लाभदायक नहीं होता. पर भगवद्विश्वास दृढ रखना चाहिये कि हर कल्पमें भगवान् अपने भक्तकी रक्षा करेंगे ही (हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः)

यह समग्र भगवत्शास्त्रोंका गूढतम रहस्य है. इसे अच्छी तरह पढ़कर समझकर हृदयमें धारण करनेवालेकी भगवान्में रति दृढ होती है.

प्रस्तुत भक्तिवर्धिनीका संस्करण वि. सं. १९७७ में प्रकाशित हुए संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद् गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराज-की सहायतासे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा धीरजलाल व्रजदास सांकलीया ने इसका सम्पादन किया था. इन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं.

---

१. मूलतः गोस्वामी धर्माचार्योंकी गृहसेवामें जो मुखिया, भीतरिया, जलघरिया आदि भगवत्-सेवाके सहयोगी देखे जाते हैं वे इसी तरहके अपने घरको छोड़कर परिचर्यार्थ आनेवाले महा-भाग्यवान भगवदीय होते थे– सवैतनिक कर्मचारी नहीं. अतएव इन्हें भगवत्प्रसादी अन्न-वस्त्र देनेकी प्राचीन परिपाटी थी–वेतन नहीं. कालक्रममें वह विकृत होकर तनुजासेवाश्रयमें परिणत हो गई.

EDITORS' NOTE.

भक्तिवर्धिनी is the twelfth of the Sixteen Sacred Books of श्रीमद्वल्लभाचार्य. It is the foundation of भक्तिमार्ग, and it clearly shows the means by which भक्ति towards God may be increased and strengthened. Nothing is said here about the मुख्य अधिकारी, for his अधिकारबल is strong enough to lead him to final realisation; the मध्यम अधिकारी has to resort to त्याग and श्रवणकीर्तन after his बीजभाव *i. e.* love towards God, which is produced only by His grace has been strengthened into आसक्ति and व्यसन. Such a व्यसनी, who cannot live without God, should leave worldly surroundings, and realise His separation unobstructed. Such a भक्त is referred to in निरोध-लक्षण and his state is described in महतां कृपया....अध्यासोपि सिध्यति. It is for such a भक्त, that in संन्यासनिर्णय it is said विरहानुभवार्थं तु परित्यागो प्रशस्यते. His साधन is nothing else but भावो भावनया सिद्धः. For the हीन अधिकारी—and almost all the people of the modern times should be included in this category—the method of strengthening the बीजभाव *i. e.*, the divine love which is the gift of His Grace, is as follows:—He must stay in गृहस्थाश्रम, observe वर्णाश्रमधर्मs, give np worldly pursuits and worship कृष्ण by पूजा, श्रवण &c. Even if he cannot give up worldly pursuits on account of poverty &c., he must concentrate his mind in हरि, the remover of all pains, and always try for श्रवण &c., till the बीज germinates, and प्रेम, आसक्ति and व्यसन are produced. The test of divine love is संसाररागनाश, the test of divine आसक्ति is गृहारुचि; all the people in the house look like hindrances-nay, strangers. The test of व्यसन is the inability to live without Divine Presence, तद्विना स्थातुमशक्तिः. Even such a व्यसनी or विरहातुर should not constantly stay at home, because it is a prison, full of many fetters.

The त्याग stated above is not easy; it is full of obstacles due to दुःसंसर्ग and दुष्टान्न. Hence it is better to stay in a हरिस्थान, in the company of भक्तः, who are wholly engrossed in serving the Lord. There also the aspirant should stay near or distant, in such a way that his चित्त is not spoiled. श्रीवल्लभाचार्य says that he who is wholly engrossed in सेवा or कथा till his life will never perish.

If one is really anxious to go to God, he will learn much from this ग्रन्थ The fourteen commentaries that we have been able to collect and publish show the various aspects from which we can look at it. Of each of the first eight commentaries we had three to five copies, and from the ninth we had only one copy of each. Of श्रीकल्याणरायजी's commentary we had got a mss. written by his illustrious son श्रीहरिरायजी, of श्रीपुरुषोत्तमजी's we had a mss. corrected by himself in his own hand-writing, and of 10, 11, 12 and 13, we had the original mss. written by the authors themselves.

A large collection of these commentaries we got from Pandit Gattulala's Library, and we are grateful to the departed Pandit for his vast and varied collection of mss. Some mss. we were able to get from the Bhandarkar Research Institute, for which we are thankful to Dr. S. K. Belvalkar. Shri Vallabhalalji, son of Shri Devkinandanji also gave us some mss. and we acknowledge our gratefulness to him. Lastly, some important original mss. Mr. Telivala was able to collect while on tour at श्रीनाथद्वार, कोटा, कांकरोली &c.

We note with pleasure the help that we have received in the preparation of press-copies of some of these mss. from Messrs. Gopaldas Jhalani, B. A., of Ujjain, Dhirajlal Kashinath Pandya of Anand, Chandulal C. Shah, Bechardas Maganlal and Purushottamdas Tribhuvandas of Nadiad. This work is printed from the funds supplied by नित्यलीलास्थ गोस्वामी श्रीजीवनलालजी of पोरबंदर and his son श्रीरणछोडलालजी and our sincere thanks are due to them.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Leet of Ford Shri Krishna.

BOMBAY, *March 1921.*

MULACHANDRA T. TELIVALA.
DHIRAJLAL V. SANKALIA.



प्रस्तावना.

सेवाफलादि ષોડશગ્રન્થની માલા જે અમારાદ્વારા પ્રકટ થાય છે તેના આશ્રયદાતા શ્રીસુદામપુરીસ્થ શ્રીમદ્ગોસ્વામિ શ્રીજીવનલાલજી ગત શ્રાવણ કૃષ્ણ નવમી–નંદમહોત્સવને દિવસે નિત્યલીલામાં પધાર્યા છે, અને તેથી સાંપ્રદાયિક વિદ્યાકાર્યને મહાન્ અલાભ થયો છે. શ્રીજીવનલાલજીનું પ્રાકટ્ય શ્રીમદ્ગોકુલમાં સંવત્ ૧૯૧૬ માર્ગશીર્ષ શુક્લ ત્રયોદશીને દિવસે થયું હતું. આપશ્રીનો ઉપનયનસંસ્કાર શ્રીજગન્નાથજીમાં થયો હતો. સંવત્ ૧૯૩૫થી આપશ્રી પોરબંદર પધાર્યા અને નિવાસ ત્યાંજ કર્યો. ત્યારથી આપશ્રી પોરબંદરવાલા શ્રીજીવનલાલજી એ નામથી સંપ્રદાયમાં પ્રસિદ્ધ થયા. પંડિત ગટ્ટૂલાલના સંપર્કથી વિદ્યામાં અભિરુચિ રાખનારા ત્રણ ગોસ્વામી મહારાજો થયા. ૧. ટિકૈત શ્રીગોવર્ધનલાલજી, ૨. શ્રીદેવકીનન્દનલાલજી, ૩. શ્રીજીવનલાલજી. આ ત્રણમાં શ્રીદેવકીનન્દનજી નિત્યલીલામાં પ્રથમ પધાર્યા. શ્રીદેવકીનન્દનજીનો વિદ્યાનુરાગ અપેક્ષિત રીતે સાંપ્રદાયિક ન થયો અને તેથી જનમનોરંજન કરીને યદ્યપિ મહતી ધનસંપત્તિ તથા કીર્તિ સંપાદન કરી તોપણ આપશ્રીના જીવનમાં સાંપ્રદાયિક નોંધ લેવા જેવું વિદ્યાકાર્ય એક પણ ન થયું. એઓશ્રીના લાલજી શ્રીવલ્લભલાલજી એ ન્યૂનતા દૂર કરે એ સ્પૃહણીય છે. ટિકૈતશ્રીનો વિદ્યાનુરાગ ઉજ્જ્વલ છે, પરન્તુ રાજકાર્યની ખટપટમાં આચાર્યશ્રી તરીકેનું પ્રધાન કર્તવ્ય–સાંપ્રદાયિક વિદ્યાનું રક્ષણ–તેમાં અપેક્ષિત ધ્યાન અદ્યાપિપર્યન્ત એઓશ્રી આપી શક્યા નથી. ત્યાંના આશ્રિત જૂની શૈલિના ટુંકી દૃષ્ટિવાલા અને દેશકાલ નહિ સમજનારા અને સાંપ્રદાયિક સાહિત્યના રક્ષણનું ગૌરવ અપરિચયથી નહિ અનુભવનારા પંડિતો ઘણે અંશે આ પરિણામમાં જોખમદાર છે. શ્રીજીવનલાલજીનો વિદ્યાનુરાગ જ્યારથી બીજરૂપે રોપાયો ત્યારથી નિત્યલીલામાં પધાર્યા ત્યાંસુધી વૃક્ષાદિરૂપે વૃદ્ધિંગત થતોજ ગયો. આપશ્રીમાં વિદ્યાની પરીક્ષા કરવાની અને કાર્ય લેવાની શક્તિ હતી. આજ કારણથી આપશ્રીએ છગનશાસ્ત્રી તથા બાલશાસ્ત્રીને આશ્રય આપ્યો હતો. છગનલાલ શાસ્ત્રી સાથે આપશ્રી શ્રીસુબોધિન્યાદિનું વાચન કરતા એટલું જ નહિ, પરન્તુ સમયોચિત કેટલાક ગ્રન્થો ગુર્જર ભાષામાં લખાવી પ્રસિદ્ધ કરાવ્યા. બાલશાસ્ત્રી સાથે પણ આપશ્રી શ્રીસુબોધિનીજીનું વાચન નિયમશઃ કરતા, અને અન્ત સમયે શાસ્ત્રી હરિકૃષ્ણને પોતાના આશ્રયમાં રાખીને આપશ્રીએ શ્રીસુબોધિનીજીનું વાચન પ્રવચન નિત્યલીલામાં પધાર્યા ત્યાંસુધી સતત ચાલું રાખ્યું.

મહારાજશ્રીની વ્યાવહારિક કાર્ય કરવાની કુશલતા પણ ઘણી હતી. આજ કારણથી આપશ્રી નિજ તનુજ શ્રીરણછોડલાલજીને મહતી સમૃદ્ધિ વારસામાં સોંપી ગયા છે, અને તત્સંબંધી ચિન્તામાંથી મુક્ત કરી ગયા છે. શ્રીરણછોડલાલજીએ પણ નિજપિતૃચરણનું નામ તદભીષ્ટ સકલ સાહિત્ય સમેત શ્રીસુબોધિનીજીની પ્રસિદ્ધિજ કરવાનો સંકલ્પ કર્યો છે. તે અત્યન્ત યોગ્ય છે. એના જેવું સ્મારક અન્ય શું હોઇ શકે ?

મહારાજશ્રીનું કાર્યકૌશલ્ય અસાધારણ હતું એટલુંજ નહિ પરન્તુ સમયોચિત રીતે કાર્ય કરતા હતા. દયાનન્દાદિના મોહથી લોકોને ઉપનયનાદિનો મોહ થતો. આ મોહથી તે લોકો માર્ગમાંથી ભ્રષ્ટ ન થાય તેથી આપશ્રીએ ઘણા વૈષ્ણવોને ઉપનયનસંસ્કાર કરાવ્યા. આપશ્રીની ઉદારતા પણ ઘણી હતી. પ્રત્યેક જે એઓશ્રીના સંબંધમાં આવતું તેનો આપશ્રી તદુચિત રીતે સત્કારાદિ કરતા. આ પ્રકારે અનેક રીતે આપશ્રીનું જગન્મંગલકર્તૃત્વ તેમને સ્ફુરતું.

મહારાજશ્રીની કાર્ય કરવાની દૃઢતા પણ પ્રશંસનીય હતી. જ્યારે આપશ્રીએ મને ષોડશ ગ્રન્થોની સકલ સાહિત્ય સમેત પ્રકટ કરવાની સેવા સોંપી, તે સમયે સંપ્રદાયના અન્ય પંડિતોએ તેમ નહિ કરવાને આપશ્રીને સૂચવેલું. ‘બીજાઓ તરફથી એ કાર્ય થાય છે, તેમાં વચમાં પડવું નહિ, આ લોકો તો વણિક્ છે, તેમને એ કાર્ય સોંપાય નહિ’ વગેરે વગેરે ઘણી રીતે મહારાજશ્રીને સમજાવવામાં આવેલા. પણ એઓશ્રીની દૃઢતા તથા પ્રભુકૃપાથી અન્તે એ સેવા અમારાદ્વારા થઇ, અને અમને જાણીને સંતોષ થાય છે કે ઉક્ત પંડિતો પણ અમારા કાર્યથી પ્રસન્ન થયા છે. આર્ટિસ્ટ પાસે તૈયાર કરાવીને આપશ્રીનું ચિત્ર અત્ર ધર્યું છે–

ग्रन्थादिसंग्रह.

૧ પ્રથમ ટીકા શ્રીમદાચાર્યપૌત્ર શ્રીમદ્બાલકૃષ્ણજી–શ્રીમદ્વિઠ્ઠલેશ્વરના તૃતીય કુમારની છે. આ ટીકાના ત્રણ પ્રતિ પ્રાપ્ત થઇ હતી. એક પંડિત ગટ્ટૂલાલના સંગ્રહમાંથી અને બીજી બે યાત્રમાંથી અમને મળી હતી.

૨ દ્વિતીય ટીકા શ્રીશ્રીવલ્લભ–શ્રીગોકુલેશ–શ્રીગુસાંઇજીના ચતુર્થ લાલજીની છે. આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મલી હતી–બે પં. ગટ્ટૂલાલના સંગ્રહમાંથી, એક શ્રીવલ્લભલાલજીના સંગ્રહમાંથી, અને એક ભાંડારકર રિસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાંથી.

૩ તૃતીય ટીકા શ્રીરઘુનાથજી–શ્રીગુસાંઇજીના–પંચમ પુત્રની છે. આની ત્રણ પ્રતિઓ પં. ગટ્ટૂલાલના સંગ્રહમાંથી મળી હતી, અને બે યાત્રામાંથી.

૪ ચતુર્થ ટીકા શ્રીગુસાંઇજીના પૌત્ર શ્રીકલ્યાણરાયજીની છે. આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી છે. આમાંથી એક તો શ્રીહરિરાયજીના નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરમાં લખેલી છે.

૫ પંચમ ટીકા શ્રીહરિરાયજીની છે. આ કારિકાત્મક ટીકાની પાંચ પ્રતિ મળી છે. ત્રણ પં. ગટ્ટૂલાલની સંગ્રહમાંની છે, એક શ્રીવલ્લભલાલજીની છે, અને એક યાત્રામાંથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે.

૬ ષષ્ઠ ટીકા શ્રીહરિરાયજીના ભાઈ શિક્ષાપત્રવાલા શ્રીગોપેશ્વરજીની છે. આની બે પ્રતિ યાત્રમાંથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે.

૭ સપ્તમ ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમજીની છે. આ ટીકાની પાંચ પ્રતિ મળી છે. ત્રણ પં. ગટ્ટૂલાલના સંગ્રહમાંથી, એક શ્રીવલ્લભલાલજીથી, અને એક નડીયાદમાંથી પ્રાપ્ત થઈ છે. આમાં એક શ્રીપુરુષોત્તમજીના નિજશ્રી હસ્તાક્ષરમાં શોધેલી છે. એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત ગ્રન્થોમાં કરાવ્યો છે. આ ટીકામાં છાપેલું ટિપ્પણ શ્રીયોગી શ્રીગોપેશ્વરજીના શ્રીહસ્તાક્ષરમાં લખેલું છે.

૮ અષ્ટમ ટીકા કાકા શ્રીવલ્લભજીની છે. એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત ગ્રન્થોમાં કરાવ્યો છે. આની પાંચ પ્રતિ મળી છે. બે યાત્રમાંથી અને ત્રણ પં. ગટ્ટૂલાલમાંથી.

૯ નવમ ટીકા મઠપતિ જયગોપાલભટ્ટની છે. પરિચય એમનો સેવાફલમાં કરાવ્યો છે. આની એકજ પ્રતિ યાત્રામાંથી પ્રાપ્ત થઈ છે.

૧૦ દશમ ટીકા દીક્ષિત લાલૂભટ્ટની છે. આની એક પ્રતિ યાત્રામાંથી પ્રાપ્ત થઇ છે. આ મૂલ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે, લાલૂભટ્ટનો પરિચય સેવાફલમાં કરાવ્યો છે.

૧૧ નવમી વિવૃતિ ભાંડારકર રિસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાંથી મળી છે. મૂલ જ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે. ટીકાકાર કોઈ ગોસ્વામી મહારાજ હોય એમ લાગે છે.

૧૨ દ્વાદશ ટીકા શ્રીવલ્લભાત્મજ શ્રીબાલકૃષ્ણજીની છે. આ પણ મૂલજ પ્રતિ છે. આ પ્રતિ યાત્રમાંથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે.

૧૩ ત્રયોદશ ટીકા કોની છે તે અજ્ઞાત છે. એ પુસ્તક ઉપર શ્રીગિરિધરનું નામ છે તેથી શ્રીગિરિધરકૃત એમ કલ્પ્યું છે. આ ગોસ્વામી શ્રીકાંકરોલીમાં થયલા હોવાથી તેજ ગૃહના કોઇ ગુસાંઇજીની આ ટીકા હોવાનો સંભવ છે. આ પુસ્તક પણ મૂલ જ છે. કદાચિત્ આણુંદની બેઠકવાળા શ્રીવિઠ્ઠલનાથજી આના કર્તા હોય.

૧૪ ચતુર્દશ ટીકા કોની છે તે પણ અજ્ઞાત છે. શ્રીદ્વારકેશજીનું નામ કલ્પનાથી મૂકેલું છે. આ પ્રત અશુદ્ધ તથા ત્રુટિત છે. પં. ગટ્ટૂલાલના સંગ્રહમાંથી મળી છે. યથામતિ શોધીછે.

ગોપાળદાસ ઝાલાની, બી. એ, ચંદુલાલ, ધીરજલાલ પંડ્યા, બેચરદાસ, પુરુષોત્તમદાસાદિનો લિખનમાં ઉપકાર થયો છે. ભક્તિવર્ધિનીનો સાર અન્તે અંગ્રેજીમાં આપેલો છે.

ઉપર જણાવેલા સર્વનો અમે ઉપકાર માનીએ છીએ. શ્રીજીવનલાલજીનું તથા એઓશ્રીના લાલજી શ્રીરણછોડલાલજીનું સાહાય્ય મુક્ત કંઠે સ્વીકારીએ છીએ અને શ્રીમત્પ્રભુચરણકમલમાં આ ગ્રન્થને સમર્પીએ છીએ.

મુંબઈ. ૧૯૩૭.
દોલોત્સવ.

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા,
ધૈર્યલાલ સાંકલીયા.



श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रणीता ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥
बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्[1]सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं[2] विनाशकम्[3] ।
त्यागं कृत्वा यतेत्[4]यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽभ्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे[5] विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥
इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढं[6]तत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटिता भक्तिवर्धिनी समाप्ता ।

---

१ यसेत्, यतेत् । २ गृहस्थानम् । ३ विनाशनम् । ४ यसेत् । ५ अधूरम्, अदुर । ६ मया गुप्तम्, गूढं तत्त्वम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्बालकृष्णकृतविवृतिसमेता ।

रत्यन्ते स्वेदबिन्दुश्रितमुखकमलस्तामवष्टभ्य जातो
निःस्पन्दः श्रान्तियुक्तो मलयजपवनासेवितः पुष्पतल्पे ॥
श्रीराधावक्त्रपद्माद्भुतमधुचिरतःपानघूर्णायमानो-
द्रिक्तः स्नेहार्द्रदृष्टिः प्रतिफलतु दृशोः शीघ्रमेव व्रजेशः ॥ १ ॥

इह खलु स्वेनैव साक्षाद्भगवते निवेदितान् भक्त्यङ्कुरितचित्तान् सर्वान् भक्तिप्रवृद्ध्यर्थमुपायानभिज्ञान् परमकृपया तानुपायानाचार्या उपदिशन्ति **यथा भक्तिरिति** ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्, प्रकर्षेणैधमानोत्तरोत्तरं भगवति स्याद्, यस्या न कदाचिदपि ह्रासः। एतादृशस्तत्प्रवृद्ध्यनुकूल उपायो निरूप्यते नितरामुच्यते । यत्प्रकारकनिरूपणानन्तरं न कोऽप्युपायस्तिष्ठत्यवशिष्टः । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा दृढं बीजभावं तत्र प्रथमं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुमाहुः **बीजेति** । भक्तिकल्पतरुप्रवृद्धिकारणभावो बीजभावः । अनुग्रहोत्तरकालीनभाव इति यावत् । यद्वा । बीजपदं सत्पुरुषपरम् । तस्मिन्यो भावो भगवत्त्वेन भावः । 'आचार्यं मां विजानीयात्' 'अविद्यो वा सविद्यो वे'त्यादिवाक्यैः। स यदा वक्ष्यमाणसाधनैर्दृढो भवति, तदा सा तथा भवति । अथवा, बीजपदेन भगवानेवोच्यते । तस्मिंस्तस्य तथात्वे सा तथा भवति । ननु बीजभावोत्पत्तावनुग्रह एव हेतुरित्यत्र को हेतुः । उच्यते । नहि तदुत्पत्तौ कर्म । तज्जन्यत्वेनाश्रूयमाणत्वात् । नापि स्वतः । चेत्स्यादृष्टः स्यात् । नापि स्वभाववैचित्र्यं वक्तुं शक्यम् । अनुक्तत्वात् । तेन 'यमेवैष वृणुत' इति 'यदा यमनुगृह्णाती'त्यादिवाक्यैः स एव हेतुत्वेन वाच्यः । निश्चयार्थकस्तुशब्दः । हेत्वन्तरमाहुः **त्यागादिति** । त्यागाद्भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । त्यागस्तु भगवच्चरणारविन्दप्राप्त्यर्थं सवासनगृहादिविस्मृतिः । केवलत्यागेनैव सा तथा न भवतीत्यत उक्तं **श्रवणकीर्तनादिति** । प्राणिवर्जितजातिवाचित्वेनैकवद्भावः । श्रवणकीर्तनाभ्यामपि सा तथा भवति ।

एवं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुत्रयमुक्त्वा बीजभावदार्ढ्यप्रकारमाहुः **बीजेति** ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजस्य दार्ढ्यें यः प्रकारः स उच्यते । तुशब्दः पूर्वभेदकः । यत्स्वगृहे स्थित्वा स्वधर्मतः स्वधर्मेभ्यो वर्णाश्रमधर्मेभ्यः अव्यावृत्तस्तत्सहितः सन् कृष्णं पूर्णपुरुषोत्तमं भक्त्यैकगम्यं भजेत् । कैर्भजेदित्याकांक्षायामाहुः **पूजयेति** । कृष्णं पूजया भजेत् । पूजा त्यागमोक्तप्रकारेणार्हणीयोपचारः । ननु पूजया भगवद्भजनं कथम् । भक्तेरेव पूजाविषयत्वात्, नतु भगवतो, यतः 'भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत मा'मिति भगवद्वाक्यविरोधात् । सत्यम् । अस्ति पूजाविषयत्वं भक्तेः, परन्तु मूले हि परम्पराकारणत्वाभिप्रायेण पूजाव्यपदेशो, न तु साक्षात् । तेन कृष्णपदं तु भक्तस्य पुरुषोत्तमगामिनी पूजापि भवतीत्यत उक्तम् । यद्वा । एवंविधनिःकामपूजाफलविषयनिर्धारार्थं कृष्णपदम् । एवं पूजया भजनं निरूप्य श्रवणादिभिरपि निरूपयन्ति **श्रवणादिभिरिति** । श्रवणादिभिरपि कृष्णं भजेत् । आदिपदग्राह्ये कीर्तनस्मरणे । तेनैतन्मार्गीयस्य श्रवणादिव्यतिरेकेण क्षणमपि न स्थेयमित्यायातम् ।

ननु सततं कृष्णभजनं कथम्, कार्यान्तरव्यासक्तेस्तत्राहुः **व्यावृत्तोपीति** ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्ये व्यावृत्तो व्यासक्तोपि चेत्तदा गुरूपदिष्टं यादृग्भगवत्स्वरूपं तत्रैव स्वस्य चित्तं स्थाप्य भवेत्, अव्यावृत्तिमान् यदि भवेत्, तदा श्रवणादौ चित्तं यसेत् । यद्वा, प्रकारान्तरेणाप्यस्यावतारिका सम्भवति । तथा हि । ननु यदि स्वधर्माव्यावृत्तिरेव भजने प्रयोजिका, तदा त्वादृतोपदेशस्य दैववशात्प्रच्युतधर्मस्य कस्यचित्प्रयोजकाभावाद्भजनासम्भवः । तथाच तत्कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्, तस्मा'त्प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये'तिन्यायेन ग्रहणाभाव एव वरमिति चेत्तत्राहुः **व्यावृत्तोपीति** । अत्रेयं शङ्का न कार्या । यत्स्वधर्माव्यावृत्तिरेव भजने प्रयोजिका । 'अपि चेत्सुदुराचार' इति भगवद्वाक्याद्भगवदीयस्य प्रच्युतधर्मस्यापि भगवद्भजनस्य विहितत्वात् । परन्तु यावदारभ्य भगवद्भजनाभिनिविष्टस्ततःप्रभृति तस्य दुराचाराकरणमित्यपेक्षितम् । अन्यथानन्यभाक्त्वभङ्गप्रसङ्गः । दुराचारस्यापि भजनात् । तेन स्वधर्मेभ्यो व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं यसेत्प्रयत्नेन स्थापयेदित्यर्थः । एतादृशस्यापि स्वबलेनैवान्तरायान् दूरीकृत्य स्वरूपानन्ददानं करोतीति ज्ञापनाय हरिपदम् । पूर्वं हरिपदोक्त्या मध्ये चित्तपदोक्त्यान्ते श्रवणादिपदोक्त्या देहलीदीपवदुभयत्रापि साम्येन चित्तवृत्तिः स्थाप्येति ज्ञेयम् । एवं सततं भजने क्रियमाणे उभयविधानामपि यदेकजातीयं फलं तदाहुः **तत** इति । तदनन्तरमेवं भजनानन्तरमुभयविधानां प्रेमोत्पत्तिर्भवति भगवति सर्वात्मना । तथैवासक्तिः, तद्व्यतिरेकेण स्थित्यसम्भव इति यावत् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभव' दिति यथा । व्यसनं तु सततमन्य-

विस्मृतिपूर्वकं भगवत्परता । चः समुच्चायकः । एतत्त्रितयं यदा भवेत् तदा तद्बीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यत्कथमपि न नश्यति ॥ ३ ॥

तन्नाशाभावप्रकारपूर्वकं स्नेहादीनां त्रयाणां प्रत्येकं फलमाहुः **स्नेहादिति** सार्धेन ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहाद्गृहविषयको यो राग उत्कटेच्छारूपस्तस्य विशेषेण नाशः स्यात् । नाशपदेन पुनस्तस्यानुत्पत्तिरिति ज्ञेयम् । अत एव न निवृत्त्यादिपददानम् । **आसक्त्येति** । यदा भगवत्यासक्तिर्जाता, तदा तद्व्यतिरेकेण स्थित्यसम्भवेन तदर्थं यत्ने जाते गृहस्थाः स्वार्थं तं प्रेरयन्तीति तस्मिन्नरुचिः, तथा कृत्वा भगवद्भजने बाधकत्वं विघ्नकर्तृत्वं भासते, एत आत्मीया न भवन्तीत्यपि । यदि स्युस्तदा किं प्रतिबन्धकाः स्युरिति । **व्यसनं हीति** । यस्मिन्काले अचिन्त्यानन्तफलदातरि कृष्णे व्यसनं स्यात्तदैव स कृतार्थः स्यात् । संशयव्युदासाय हीति पदम् ॥ ४, ५ ॥

एवं त्रयाणां फलमुक्त्वा तादृशस्य कर्तव्यतामाहुः **तादृशस्यापीति** ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

स्नेहासक्तिव्यसनवतोपि पुरुषस्य तदनन्तरं यत्सततं सर्वदा गृहरूपं यत्स्थानं तद्विनाशनम् । स्नेहासक्तिव्यसनानां विनाशनमित्यर्थः । तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात् । तेन तत्त्यागं कृत्वा यो यतेत्प्रयत्नं कुर्यात् । एतेन मध्ये तीर्थादिकमपि गच्छेदिति सततपदेन ज्ञेयम् । ननु सोपि प्रयत्नो मायावादिवन्निराकार एव भवेदित्याशङ्काव्युदासायाहुः **तदर्थेति** । भगवद्रूपो योर्थस्तदर्थमेकं मानसं यस्य स तथा । इदं तेषां न । शून्ये एव पर्यवसितमतित्वात् । 'येन्येरविन्दाक्षे'त्यादिवाक्येन निन्दितत्वाच्च । तेषां गार्हस्थ्यधर्मत्यागे भगवदर्थं गृहात्यागे उभयतः प्रच्युता अधःपतन्ति । तेन त्यागस्तु भगवदर्थमेव मुख्यः । सोपि पूर्वमान्तरः, तस्मिन् सिद्धे ततो बाह्यतः । एकपदं सततमेतन्मार्गीयैकलभ्यफलात्मके मनःस्थितिज्ञापनाय । तेनैतदतिरिक्तावतारे 'मूलसेकः शाखायामपि पर्यवस्यती'ति न्यायेन तदकरणं न विरुध्येत । तस्यां सत्यां देहव्यापृतिस्तत्रैव ॥ ६ ॥

एतादृशस्य यत्फलं तदाहुः **लभत** इति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

य एवं त्यागं कुर्यात्स भक्तिं प्राप्नोति । एवंविधत्यागस्य भक्तिफलकत्वात् । तेन

मुक्त्यादीनामेतत्फलत्वाभावः सूचितः । तत्रापि सुदृढा अविनश्वरा । सततमेधमाना । सापि भक्तिः सर्वतो मोक्षादेरप्यधिका मुक्तानामपि दुःप्राप्या । 'भगवान् भजता'मिति वाक्येन । ततः पुष्टिरूपामपि लभते । **परामिति** । परामुत्कृष्टामुक्तभक्तेः । पुष्टिरूपामिति शेषः । एवं त्यागफलमुक्त्वा पुनः सिंहावलोकनन्यायेन त्यागव्यवस्थां वदन्ति **त्यागे** इति । कृत एव त्यागे न कोपि पुरुषार्थः । तस्मिन् बाधकानां भूयस्त्वं बहुत्वम् । भूयांसि बाधकान्युपस्थितानि भवन्ति । ततस्तं नाशयन्ति । ननु तस्मिन् सति तदुपस्थितिः कथम् ? तत्र हेतुमाहुः **दुःसंसर्गा**दिति । तदुपस्थितिस्तु भक्तानां भगवद्भक्तविरोधिनां संसर्गात् संगतेः । तत्संसर्गानन्तरं सोपि तथा भवति । तत्संसर्गेण भगवद्धर्माणामन्तर्हितत्वात् । तथैव दुष्टान्नग्रहणे दुर्बुद्धिर्भवति । तस्य पापान्नत्वात्, भ्रान्त्युत्पादकत्वाच्च । यथा जीवानां भगवत्संबन्धाभावे सदोषत्वम्, तथान्नस्यापीति; तत्प्रवृद्धिकामोऽसमर्पितं न भुञ्जीयादित्याशयः । उपलक्षणं चैतत् । वस्तुतस्तु वस्तुमात्रे तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण तदभावः । तेन सम्बद्धैरसम्बद्धं न ग्राह्यमिति भावः । तेन यथाकथञ्चित्सम्पादितं तत्सम्बद्धं तदपि शुद्धमेव भवतीति तादृशैस्तथैव कार्यमिति भावः सूचितः । असद्द्रव्योपार्जितमन्नं कृपणान्नं च दुष्टान्नम् । तेन दुःसङ्गतिर्दुरन्नं च यत्र न भवति, तत्र सततं स्थेयम् । एतेनाटनाभावः सूचितः ॥ ७ ॥

तत्स्थानमेवाहुः **अत** इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यत उभाभ्यां तद्द्वयस्त्वमत एकान्ते हरिस्थाने यत्र हरिः सर्वतः तिष्ठति तत्रैव स्थेयम् । तत्राप्येवमेव जडवन्न । किन्तु तदीयैः भगवदीयैः भगवत्सम्बन्धिभिः सह मिलित्वा । ते हि तद्वार्ताभिज्ञा यतो भवन्ति । तेन सत्सङ्गे सति कृतार्थ एव भवति । एतेन दुःसङ्गो न भवतीत्यायातम् । दुष्टान्नप्राप्तिरपि न । तदुच्छिष्टस्यैवोपादेयत्वात् । अयमेव दासधर्मो यतः । असूयाद्यारोपोपि तेषु न कार्यः । यतस्ते तत्पराः केवलं भगवत्पराः । भगवन्तं विनान्यत्किमपि न जानन्ति । तस्मात्तेषु द्वेषादिषु सत्सु सोपि तं न सहते । भक्तद्वेषादेरसह्यत्वात् । इदं तूच्यते । यस्य तत्सङ्गस्तस्य तेषु तदारोपो भवति एव न । वस्तुस्वभावात् । तस्मिन्सति तु तथैवेति सम्भाव्यते । तदीयैः सह सेवायां अदूरस्य दूराभावस्य विप्रकर्षं अतिशयेनाधिक्यं यस्मिन्देशे तत्र स्थेयम् । यथाहोरात्रमध्ये वारद्वयमेकवारं वा तत्सङ्गो भवति । वेत्यनादरे । यतो मुख्यः पक्षः स एव यस्मिन्सेवाश्रवणादिकं मतम् । अस्मिंस्तु केवलं श्रवणादि एव । तेनायं गौणः । मुख्यासम्भवेपीदं तु कार्यमेव । अन्यथा चित्ते दोषाक्रान्त्या नाश एव ॥ ८ ॥

नन्वेवं भगवदर्थं क्रियमाणायां सेवायां मध्य एव दैववशाद्दुर्बुद्धौ जातायां नाशोपस्थितौ तु तत्कृतिर्व्यर्था स्यादत आहुः **सेवायां वेति** ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सेवायामासक्तिर्भवेत्सोपि कियत्कालपर्यन्तमेव, पुनर्नेत्येवं न, किन्तु दृढा, सेवायां तु कश्चिदेवाधिकारी भवतीत्यत उक्तं वेति । अनेन दुर्लभत्वं निरूपितम् । तथैव कथायाम् । तदनन्तरं तामेव तदीयैः सह कुर्यात् । अन्यत्र मनो न निवेशयेत् । तेन मुख्यत इदं द्वयमेव कार्यम् । कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं वेत्युक्तम् । तादृशस्य नाशो न, किन्तूत्तरोत्तरमुन्नतिरेव । तर्हि यत्किञ्चिद्दिनपर्यन्तं मा भवतु, ततस्तु कदाचिद्भवेदेवेत्याशङ्क्याहुः **यावज्जीवमिति** । स यावज्जीवति तावत्तस्य नाशो न । **क्वापीति** । कस्मिन्नपि देशे केनापि प्रकारेण न भवतीत्यर्थः । अनिशं तत्सेवाकथोद्यमे तदितरत्रानुपयोगः क्रियाशक्तेर्वार्तायाश्चित्तस्यापि । अत्र प्रामाण्यार्थं स्वमतिरेव दर्शिता । **मतिर्ममेति** । अहं त्वेवमेव जानामि, यत्सेवाश्रवणादिकमेव सततं कार्यम्, यतो नाशाभावप्रकारस्त्वयमेवास्मिन् शास्त्रे मुख्यतया निरूप्यते ॥ ९ ॥

नन्वेवं तत्र स्थित्वा क्रियमाणायां सेवायां चेत्केनापि कृत्वा बाधसम्भवे सति किं कार्यं तत्राहुः **बाधसम्भावनायामिति** ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधस्य सम्भावना यदा भवति सेवायां तदा त्वेकान्ते भगवत्स्थाने वासो नेष्यते । न च कलहद्वेषादिनापि स्थेयम्, सेवाया एवेष्टसाधनत्वादिति वाच्यम् । एवं च प्रतिबन्धकस्य बलवत्त्वेन तदसम्भवे द्वेषादेर्मनसि स्थित्या श्रवणाद्यसम्भवे चित्ते दोषाक्रान्त्या कृतवैयर्थ्यापत्तिः । तस्माद्भगवदिच्छयैवं जातमिति मनसि निश्चित्य ततो निःसृत्य निश्चिन्तस्तत्स्मरणं कुर्वन् तीर्थे तिष्ठति, गृहे वा । नन्वेवमेव चेद्भगवदिच्छा, तदा तु पर्यवसानतो नाश एवेत्याशङ्क्याहुः **हरिस्त्विति** । सर्वतः सर्वेभ्यः सर्वप्रकारेण हरिस्तु रक्षां करिष्यतीत्येवं मनसि निर्धार्य स्थेयम् । सर्वथाश्रितानां रक्षामेव करोति । अप्रामाण्यशङ्कानिवृत्त्यर्थमाहुः **न संशय इति** । अत्र संशयो न कार्यः । यमनुगृहीतवांस्तं पुनर्न त्यक्ष्यति, सत्यसङ्कल्पत्वात् । इदानीमिच्छाया एव तथात्वात्सेवाऽभावः । यदि कदाचित् भविष्यति, तदा सापीत्यस्मिन्नर्थे न कापि चिन्ता विधेया ॥ १० ॥

एवमुपायान्निरूप्य तत्फलं निरूपयन्ति **इत्येवमिति** ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति भगवच्छास्त्रं मया निरूपितम् । यद्भगवत्कृपैकवेद्यम् । तत्र हेतुः । यतो भगवच्छास्त्रं भगवदीयं शास्त्रम्, एतच्छास्त्रवेदको भगवानेव, यतो नान्यः, एतदज्ञत्वात् । अन्यस्यैतदज्ञत्वे हेतुमाहुः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तं सर्वैरज्ञातं यद्भगवत्स्वरूपं तदेव तत्त्वं सारभूतं यस्य तत्तथा । तदपि मया एवं निरूपितम् । अत्र प्राकट्यपूर्वकं निरूपितमित्यर्थः । भक्तिमार्गजिज्ञासूनां निमित्तम् । तेन य एतदुक्तप्रकारमाचरेत्तस्य भगवति रतिः स्यात्सापि दृढा । एतदुक्ताचरणाभावे यत एतत्प्रत्यहं सम्यगर्थावबोधपूर्वकं अधीयीत पठेत्तस्यापि तथा रतिः स्यादिति ॥ ११ ॥

विठ्ठलेशपादाब्जैकदास्यसङ्काङ्क्षिणा सदा । प्रकाशिता यथाशक्ति मयेयं भक्तिवर्धिनी ॥१॥

इति श्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीश्रीवल्लभविरचितविवृतिसमेता ।

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं कृपामधुसुपूरितम् ।
तत्परागारक्तबुद्ध्या व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥
तद्बुद्धिदृढतासिद्ध्यै पितृपादरजांस्यहम् ।
हृद्याधाय प्रवृत्तोस्मि नान्यथेति हि निश्चितम् ॥ २ ॥

अथाचार्यचरणाः स्वमार्गाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयभक्तिवृद्धिप्रकारमजानतां कृपया तज्ज्ञापनाय तद्वृद्धिप्रकारं प्रतिजानते **यथेति** ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन साधनेन **भक्तिः** स्वप्रवर्तितमार्गरूपा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नोति **तथा** तत्प्रकारक **उपायः** साधनं निरूप्यत उच्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिप्रकाराः शास्त्रेषु पुराणादिषूक्ता एव । उत्पत्त्यनन्तरं वृद्धिस्त्वनुक्तसिद्धैव । तद्यथा । श्रीभागवते 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति । एकादशेपि 'श्रद्धामृतकथाया'मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति । प्रथमस्कन्धेपि 'यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहे'ति । गीतास्वपि 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परामि'ति भक्त्युत्पत्तिप्रकारा उक्ता एव । यद्यप्युत्पत्तिप्रकारा उक्तास्तथापि वृद्धिप्रकारो नोक्त इति तद्वृद्धिप्रकारार्थमाचार्यकथनं सम्भवतीति चेत् । न । वृद्धिप्रकारोपि तत्रोक्तः । तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये । वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यमि'ति । अत्र प्रकारोप्युक्तः । यद्यप्यत्रोत्पत्तिवृद्धिप्रकाराः पुराणादिष्वप्युक्ता एव, तत एवोभयसम्भवे सत्यपि 'यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्या'दिति पुनर्भक्तिवृद्धिप्रकारकथने को हेतुरिति चेत् । सत्यम् । पूर्वोक्तसाधनानां दानव्रतादीनां मर्यादामार्गीयत्वात् तदुत्पन्नभक्तेरपि तन्मार्गीयत्वमेवेत्यवधेयम् । 'कार्यकारणयोरेकजातीयत्व'मिति नियमात् । वृद्धिप्रकारस्यापि तन्मार्गीयसाधनसाध्यत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च मर्यादामार्गीयत्वमेव । आचार्यास्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिनिरूपणं कर्तुं तस्याश्च मर्यादाभक्तिवैलक्षण्यं ज्ञापयितुं तत्साधनानि तत्फलं च वक्तुं तत्साधनानां तत्फलस्य च वैलक्षण्यं वक्तुं भिन्नतया स्वमार्गीयां भक्तिं तद्वृद्धिप्रकारसाधनं च निरूपयन्ति **यथेति** । **यथा** स्वमार्गीयस्वप्रवर्तितसाधनैर्भक्तिः शुद्धपुष्टिमार्गीया प्रकर्षेण वृद्धा वर्धिता स्यात् । वृद्धौ प्रकर्षः फलोन्मुखत्वम् । **तथा** तत्प्रकारकोपायस्तत्प्रकारकसाधनसमुदायो **निरूप्यत** उच्यत इत्यर्थः । पूर्वोक्तसाधनसमुदायानेवाहुः **बीजभावे दृढे तु स्यादिति** । अत्र बीजभावस्वरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहपूर्वकं स्वमार्गप्रकारकभगवन्निवेदनानन्तरं भगवदङ्गीकार एव बीजभावः । तस्य दार्ढ्यं निरन्तरं तदेकपरतया तन्मार्गेस्थितिः । तुशब्देन मार्गान्तरीयसाधनव्युदासः । तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । वृद्धौ स्वमार्गीयसाधनान्तराण्याहुः **त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति** । **त्यागा**देतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागात् । तद्वदेवैतन्मार्गीयभगवद्धर्मश्रवणात् । तथैव तद्वदेव कीर्तनात् । अत्र श्रवणकीर्तनयोरेकत्रद्वावोक्त्योभयोरप्येकजातीयत्वं ज्ञापितम् ॥ १ ॥

यद्यपि पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकार उक्त एव । तथापि कदाचिदितरव्यासङ्गेनान्तरायः सम्भवति, तस्माद्यथेतरव्यासङ्गाभावेन बीजदार्ढ्यं सिध्यति तदर्थं भगवद्भजनरूपं प्रकारान्तरमाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति** ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

---

१ स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयसाधनैः ।

तुशब्देनैतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदास उक्तः । स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न सम्भवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेवाहुः **गृहे स्थित्वेति** । भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत् । अत्र स्वधर्मपदेन वर्णाश्रमधर्मा न विवक्षिताः, किन्तु स्वमार्गीयभगवद्धर्मा विवक्षिताः । कुतः, वर्णाश्रमधर्माणां स्वधर्मत्वाभावात् । तद्यथा । धर्मो द्विविधः । एकः शरीरपर्यवसायी । द्वितीय आत्मपर्यवसायी । तत्र सन्ध्यावन्दनमारभ्य यागान्तानां वर्णाश्रमधर्माणां शरीरपर्यवसायित्वमेव । इन्द्रलोकादिभोगपर्यवसानात् । समाप्तौ पुनः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'ति वचनात् शरीरसुखपर्यवसायित्वमेव, न त्वात्मनः परलोकसाधकत्वम् । स्वपदस्यात्मपरत्वात् स्वधर्मपदेनात्मपर्यवसायी धर्म उच्यते । स च भगवद्धर्म एव । तथा च प्रमाणं सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवचनम् । 'यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री'रिति । किञ्च, फलप्रकरणेपि रासमण्डलमण्डनरूपाभिर्गीतम् । 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः कि'मिति । किञ्च, स्वधर्मत इति कथनात् धर्मपदस्य तसिल्प्रत्ययान्तत्वेनाव्ययत्वादविकृतो धर्म उक्तः । तेनाविकृतो धर्मो भगवद्धर्म एवेति स्वधर्मपदेन भगवद्धर्म एवेति सर्वमनवद्यम् । स च स्वधर्मः क इत्याकांक्षायामाहुः **अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णमिति** । अव्यावृत्तो भगवद्भजनाननुकूलव्यावृत्तिरहितः कृष्णं भजेत् । अत्र भजने कृष्णपदस्य फलवाचकत्वेनेदं भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यम्, न तु साधनबुद्ध्या । 'यद्यप्यग्रे 'लभते सुदृढां भक्ति'मित्यनेनालौकिकदेहसम्पत्तिपूर्वकं साक्षात्पुरुषोत्तमभजनस्यैव फलत्वोक्त्याधुनिकभजनस्य साधनत्वमायाति, तथापि पुष्टिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव भजनीयत्वात्, यद्यपि आधुनिकभजने अलौकिकदेहसम्पत्तिर्नास्ति, तथापि आधुनिकभजनस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमेवेति अस्यापि फलरूपत्वमिति ज्ञापनायोक्तमिदं भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यमिति' । ननु एकस्यैव साधनरूपत्वं फलरूपत्वं च कथं सम्भवतीति चेत् । सत्यम् । साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलस्येतरसाधनासाध्यत्वात् पुरुषोत्तमभजनमेव साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलसाधक(त्व)म् । यथा महाराजस्य धार्यमपि सुवर्णरत्नादिकमेव । व्यवहार्यमात्राण्यपि तन्मयान्येव । अथ च कोशे संग्राह्यमपि सुवर्णरत्नादिकमेव । यतस्तस्य महाराजस्य सर्वतोधिकत्वात् । सुवर्णस्यापि सर्वधात्वपेक्षयोत्कृष्टत्वात् । तथा तद्वदस्य फलस्य सर्वोत्कृष्टत्वभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनमपेक्षितम् । सर्वोत्कृष्टस्य साधनस्य विचारे क्रियमाणे भजनातिरिक्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वाभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनं सर्वोत्कृष्टफलमेवेति भजनमेव साधनम्, भजनमेव फलमिति नानुपपत्तिः काचित् । अग्रे भजनप्रकारमाहुः **पूजया श्रवणादिभिरिति** । अत्र पूजापदेन आगमोक्तप्रकारकपूजा न विवक्षिता । पूर्वं कृष्णपदेन सदानन्दफलरूपपुरुषोत्तमभजनस्य प्रकारत्वेनोक्तत्वात् । आगमोक्तपूजायाः पुरुषोत्तमविभूतिपर्यवसायित्वात् न पुरुषोत्तमभजनपर्यवसायित्वम् । तथापि पुरुषोत्तमभजनप्रकारेषु पूजाया अपि गणनात्सा पूजा शुद्धपुष्टिमार्गीयैवेति ज्ञेयम् । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गविद्भिः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये गुणगाने हरिणीनां भावं निरूप्य पश्चात्तद्भावदृष्टेरेव पूजात्वमुक्तम् । 'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै'रिति कथनात् । एतद्भावसजातीयभावपूर्वकं श्रीकृष्णदर्शनसेवाकरणमेव पूजया भजनम् । एतद्भावज्ञापनाय अत्रैतन्मार्गीयभजनसाधनपूजेयमिति ज्ञापनायोक्तं **पूजयेति** । अस्मिन्मार्गे भजनं सेवैव । अत्र [1]केचित्स्नेहरहितसेवा पूजैवेति पूजापदं व्याख्यातवन्तः, तन्न विचारक्षमम् । कुतः ? मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । आचार्यैस्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गाङ्गीकृतस्वकीयजीवेषु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिवृद्ध्यर्थं भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं कृतम् । तदीयशास्त्रे तदङ्गीकृता एवाधिकारिणः, नत्वन्ये । तेषामाचार्यानुग्रहेण शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वात् तत्प्रदर्शितसेवाकरणं सस्नेहं स्नेहरहितं वा भवतु, परन्तु पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वाद्भक्तिमार्गीयमेव भवति । नतु पूजामार्गीयम् । किञ्च, शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाप्रकारसदृशाः प्रकारा वस्त्रालङ्कारादिसमर्पणरूपाः पूजायामपि दृश्यन्ते । तथापि तेषां विभूतिपर्यवसानात्पूजामार्गीयत्वमेव, न तु सादृश्यमात्रेण तेषां भक्तिमार्गीयत्वम् । मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । किञ्च । यो यन्मार्गीयस्तत्कृतं सर्वं भगवद्धर्मादिकं तन्मार्गीयमेव भवति । यथा 'प्रमादात्कुर्वतां कर्मे'त्यत्र कर्मसाद्गुण्यार्थं कृतस्य विष्णुस्मरणस्य कर्ममार्गीयत्वमेव । अन्यच्च 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्ये'त्यत्र स्मृत्यादिक्रियाणामपि कर्ममार्गीयत्वमेव, न तु नवधाभक्त्युक्तसादृश्यमात्रेण भक्तिमार्गीयत्वम् । एवं सेवोपयोगिनीं पूजामुक्त्वा तदुपयोगिश्रवणादिकमप्याहुः **श्रवणादिभिरिति** । सेवाकरणानन्तरमवशिष्टकाले इतरव्यासङ्गाभावार्थं श्रवणम् । आदिपदेन कीर्तनस्मरणचिन्तनान्यपि ॥ २ ॥

एवमव्यावृत्तिपूर्वकं भजनमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थव्यावृत्तिसमयेपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तव्यासङ्गपूर्वकमेव व्यावृत्तिः कर्तव्येत्यत आहुः **व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति** ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तिकरणानन्तरमवशिष्टसमये पूर्ववत् श्रवणादौ यतेत् श्रवणाद्यर्थं यत्नं कुर्यात् । एवं भक्तिमार्गीयभक्तिवृद्धिसाधनान्युक्त्वास्य भक्तिवृद्धिप्रकारमाहुः **ततः प्रेमेति** । पूर्वं प्रेम भवति । ततः स्नेहाङ्कुरो भवति । तदनन्तरं प्रौढभावे सति आसक्तिर्भवति । चित्तं भगवत्स्वरूपे व्यासक्तं लग्नं तदेकपरं भवति । ततः प्रौढभावे सति व्यसनं भवति ।

१ कुतः ? तेषां वर्णाश्रमधर्मत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् । अत्र केवलभक्तिमार्गीयधर्मविचारे पुनः कथने प्रयोजनाभावात् न विवक्षिता इत्युक्तम् । २ चिह्नान्तर्गतं टिप्पणं प्रतिभाति, अन्यपुस्तकेषु क्वचिददर्शनात् ।

१ 'तस्मादत्र केचिदित्यारभ्य, तन्न विचारक्षममिति यदुक्तं, तत्सर्वं सोपपत्तिकमुपपादितमित्यलमितोधिकविचारेण ।'
२ भक्ति.

व्यसनं नाम तद्व्यतिरेकेण स्थातुमेव न शक्नोति। तद्यथा । दशमस्कन्धे 'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवदि'ति । एवं यदा व्यसनं भवति, तदा बीजभावो दृढो भवति ॥ ३ ॥

एवं व्यसनपर्यन्तं बीजदार्ढ्यप्रकारमुक्त्वाग्रे बीजस्य दृढत्वं निरूपयन्ति **बीजं तदिति** ।

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

तत्पूर्वोक्तं बीजं व्यसनभावानन्तरं दृढं भवतीति **शास्त्रे** भक्तिशास्त्रे उच्यते निरूप्यत इत्यर्थः । दृढत्वस्य लक्षणमाहुः **यन्नापि नश्यतीति** । यत्केनापि लौकिकालौकिकनाशकेनापि न नश्यतीति। लौकिका दुःसङ्गादयः, अलौकिकाः कालादयः, तैरपि न नश्यतीत्यर्थः । अतः परं येन प्रकारेण त्रयाणां स्नेहादीनां मध्ये येन यथा स्वापनोदनं भवति, तथा तस्यापनोदनप्रकारं वदन्ति । अत्र स्नेहाद्युत्पत्तौ मुख्यापनोदकास्त्रयः, भगवदतिरिक्ते रागो गृहासक्तिर्भगवद्व्यतिरेकेणापि कालनिर्वाहः । तत्र रागादित्रयाणां क्रमेणैकैकापनोदकत्वमाहुः **स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति** । तत्र पूर्वं यथाकथञ्चिदल्पस्नेहाङ्कुरोत्पत्त्यापि भगवदतिरिक्ते रागो न भवति । तदनन्तरं यदासक्तिर्भवति, ततः प्रौढभावो भवति, तदा गृहासक्त्यपनोदो भवति । भगवदासक्त्या गृहासक्तिर्गच्छति ॥ ४ ॥

आसक्त्यनन्तरं गृहारुचौ हेतुद्वयमाहुः **गृहस्थानामिति** ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

गृहे स्थितानां भार्यापुत्रादीनां, गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्था भार्यापुत्रादयस्तेषां स्वसजातीयभावाभावात् तैः सह संबन्धस्य भावविघातकत्वस्फूर्त्या तेष्वरुचिर्भवत्येवेत्यत उक्तं **बाधकत्वं भासत** इति । ननु यद्यपि भार्यापुत्रादीनां [1]भावबाधकत्वमुक्तम्, तथापि 'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति' इत्यादिश्रुत्या तेषु आत्मसंबन्धित्वेन प्रियत्वस्यापि स्फूर्त्या सर्वात्मना बाधकत्वस्फूर्तिर्न भविष्यतीत्याशङ्कानिरासाय तेषु तादृशस्य भगवदासक्तस्य आत्मसंबन्धित्वस्फूर्त्यभावेन यथा सर्वात्मना प्रियत्वाभावस्तं प्रकारमाहुः **अनात्मत्वं च भासत** इति । स्वस्य भगवदासक्त्या निरुपाधिस्नेहास्पदत्वेन भगवत्येवात्मत्वं स्फुरति, न तु स्वात्मनि । अतो भगवदीयेष्वेवात्मसंबन्धित्वं भासते । न तु स्वात्मसंबन्धिष्वात्मसंबन्धित्वं भासत इति । तेष्वात्मसंबन्धित्वभानाभावात् बाधकत्वमेव भासते, नतु स्वात्मीयकत्वमिति ज्ञापनायोक्तं

१. भावसंबन्धबाधकत्वमिति पाठः । भावसंबन्धसकलमिति पाठश्च ।

बाधकत्वमनात्मत्वमिति गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्तम् । एवं तादृशस्य गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्त्वा तस्यैव स्नेहवृद्धिपराकाष्ठामाहुः **यदा स्यादिति** । यदा यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके व्यसनं स्यात् । तद्दर्शनादिव्यतिरेकेण तत्संबन्धिव्यतिरेकेण स्थातुमशक्तिर्व्यसनं तद्यदा स्यात् । तादृशो भावो यदा स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात् । कृतः अर्थो येन तादृशः स्यात् । अर्थोत्र भक्तिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धफलरूपः । सः स्वस्मिन्कृतो भवति, सम्पादितो भवति, तदा कृतः अर्थः पूर्वोक्तफलरूपो, भगवता तस्मै दत्तो भवतीत्यर्थः । नहि एतादृग्भावयुक्तस्य एतत्फलदानातिरिक्तं फलं दातुं युक्तमिति ज्ञापनायोक्तं **हीति** ।

एवं तस्य व्यसनवतो योग्यताभावं फलं च निरूप्य तस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः **तादृशस्यापीति** ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

तादृशस्यापि तादृग्भावयुक्तस्यापि, **सततं** निरन्तरं, **गेहस्थानं** गृहस्थितिः, तादृग्भावसत्सङ्गाभावाद्विनाशकं तद्भावविघातकमित्यर्थः । यो यस्य विघातकः स तत्सन्निधौ स्थातुं न शक्नोति । अत एव फलप्रकरणे 'यर्ह्यम्बुजाक्षे'तिपद्ये व्रजरत्नरूपाभिर्निरूपितम् । यर्हि यत्प्रभृति त्वत्पादतलमस्राक्ष्म तत्प्रभृति अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयाम इति । तदेव विवृतमाचार्यचरणैः । 'यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नोती'ति । अत उक्तं **तादृशस्येति** । अतः परं पूर्वोक्तभावयुक्तस्य गेहस्थितेर्भावविघातकत्वेन तत्र स्थातुमशक्त्या स गेहत्यागमेव करोतीत्याहुः **त्यागं कृत्वेति** । तस्य गेहत्यागानन्तरं स्थितिप्रकारमाहुः **यतेद्यस्त्विति** । त्यागानन्तरं स यत्नमेव कुर्यात्, नतु प्रकारान्तरेण तिष्ठेत् । तस्य यत्नविषयमाहुः **तदर्थार्थैकमानस** इति । तादृशस्य यद्विषयको भावः स विषयो भगवानेव भवतीति । स एवार्थः । स चासावर्थश्च तदर्थः भगवान् तदर्थं भगवदर्थमेकं केवलं मानसं मनो यस्य तादृशो भूत्वा सुदृढां भक्तिं लभते । पूर्वं तस्य व्यसनपर्यन्तां सर्वानपनोद्यां भक्तिमुक्त्वापि पुनर्यत्तदर्थार्थैकमानस इत्युक्त्वापि लभते सुदृढां भक्तिमिति यदुक्तं तस्यायमाशयः । ततोपि सुदृढां सर्वात्मभावरूपां भक्तिमिति साक्षात् [1]स्वरूपानुभवफलिकां लभत इति । तल्लाभकथनेन तादृशस्य पूर्वोक्तातिविगाढभावेन विद्यमानदेहापगमानन्तरं लीलौपयिकमलौकिकं देहं प्राप्य साक्षात्स्वरूपसंबन्धि फलं लभत इत्यर्थः । फलरूपभक्तेः स्वरूपमाहुः **सर्वतोप्यधिकामिति** । सर्वतश्चतुर्विधमुक्त्यपेक्ष-

१ स्वरूपानुभवं लभत इति पाठः ।

यापि अधिकाम् । परामगणितानन्दपुरुषोत्तमपर्यवसायिनीम् । एवं पूर्वोक्तभक्तिवृद्धिपर्यवसानं फलं चोक्त्वा पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वकथनस्यायमाशयः । कदाचित्कश्चिद्भक्तिमार्गानुवर्ती पूर्वोक्तत्यागस्वरूपमज्ञात्वाहमपि गृहादित्यागं कृत्वा भक्तिवृद्धिं साधयिष्यामीति यदि गृहादिकं त्यक्तुमिच्छति तस्य तत्र निषेधमाहुः **त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति** । तादृशस्य त्यागे गृहादित्यागेन भक्तिवृद्धिसाधने बाधकभूयस्त्वात्फलं न सिध्यति। ('पूर्वोक्तप्रकारत्यागिनस्तु दृढं यन्नापि नश्यतीति बाधकाभाव उपपादित एवेति पूर्वोक्तत्यागोत्र न विवक्षितः । तस्मात्पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वं यदुच्यते 'स कदाचित्कश्चिदि'त्यनेन वक्ष्यमाणत्याग एव बाधकभूयस्त्वम् ।') बाधकान्येवाहुः **दुःसंसर्गादिति** । दुःसंसर्गः स्वस्य पूर्वोक्तत्यागहेतुभूतभावाभावात्सर्वात्मना चित्तस्य भगवदेकपरत्वाभावेन चित्तचाञ्चल्याद्दुःसङ्गभगवद्भावाभाववतां लौकिकानां सङ्गः सम्भवतीति तस्य बाधकत्वं स्पष्टमेव । अथ च तस्य पूर्वसिद्धगृहादीनां बुद्धिपूर्वकत्यागाभावाच्छरीरनिर्वाहार्थं यत्र कुत्रचिदन्नभक्षणेन तस्यान्नस्य भगवदसमर्पणजनितदोषवत्त्वेन तदन्नभक्षणेन स्वस्यापि बाहिर्मुख्यदोषः सम्भवति । यद्यप्येतादृशस्यापि बाधका दोषा इन्द्रियनिग्रहाभावरूपाः सम्भवन्ति, तथापि दुःसङ्गान्नदोषयोरतिप्रबलत्वादुभावेव गणितौ ॥ ७ ॥

एवं सति तादृशेन दोषाभावपूर्वकं कथं कालनिर्वाहः कार्य इत्याकांक्षायामाहुः **अतः स्थेयं हरिस्थान** इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तप्रकारस्थितौ दोषसम्भावना अतो दोषाभावपूर्वकं कालनिर्वाहार्थं हरिस्थाने स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वात् भक्तिमार्गीयसेवाप्रकारयुक्तभगवत्स्थाने श्रीगोवर्धनादौ स्थेयम् । तत्रापि स्थितिप्रकारमाहुः **तदीयैः सह तत्परैरिति** । तदीयैर्भगवदीयैः सह स्थेयम् । तत्रापि तत्परैर्भगवत्स्वरूपतत्सेवातच्छ्रवणादिपरैः । एतत्प्रकारकस्थित्यभावे तत्रापि दुःसङ्गेन पूर्वसिद्धबुद्धिनाशसंभवात् जीवनवैयर्थ्यमेव स्यादिति पूर्वोक्तप्रकारेण स्थेयमिति ज्ञापितम् । निरन्तरं तत्प्रकारकस्थित्यसंभवे चित्तदोषाभावार्थं प्रकारान्तरेणापि स्थितिप्रकारमाहुः **अदूरे विप्रकर्षे वेति** । अदूरे पूर्वोक्तस्थानात्स्वल्पान्तराये । अथवा विप्रकर्षे ततोपि किञ्चिद्दूरे स्थेयम् । 'तदीयैः सह तत्परैरि'ति स्थितिप्रकारमुक्त्वापि पुन'रदूरे विप्रकर्षे वे'ति यदुक्तं तस्यायमाशयः । अतिनिकटस्थितौ 'अतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कदाचिद्भगवद्भक्तावज्ञापि संभवति, तदभावायोक्तं 'अदूरे विप्रकर्षे वे'ति । तत्राप्येवमपि स्थित्वा तैः सह सङ्गः कार्य एव, न त्याज्य इत्युक्तं भवति । एवं प्रकारत्रयेण स्थितिप्रकारमुक्त्वापि स्थितिप्रकारनिर्गलितार्थमाहुः **यथा चित्तं न दुष्यतीति** । अस्यायमर्थः । पूर्वोक्तप्रकारैरथवा स्वमनोभिलषितप्रकारैर्वा यथा च भगवद्बाहिर्मुख्यदोषेण चित्तं न दुष्यति तथा स्थेयम्, न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थः । एवं पूर्वं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा तत्साध्यं फलं चोक्तम् ॥ ८ ॥

१ त्यागादिति पाठः । २ तावेवेति पाठः ।

तदनन्तरं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा शुद्धपुष्टिसाधनप्रकारमज्ञात्वा गृहं त्यक्त्वा वृद्धिं साधयिष्यामीति प्रवृत्तस्य बाधसंभावनानिराकरणपूर्वकं फलसिद्ध्यर्थं स्थितिप्रकारमुक्त्वा शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयधर्मद्वयासक्तानामपि एतन्मार्गीयफलसिद्धिर्भवतीति ज्ञापनायाहुः **सेवायां वा कथायां** वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रकटितप्रकारकसेवायां, तदवशिष्टसमये तन्मार्गीयलीलाकथायां, यस्यासक्तिश्चित्तव्यासङ्गपूर्वको दृढाग्रहो यावज्जीवं भवेत्, तस्य न क्वापि देशकालभेदेनापि तस्य भावस्य नाशो न भवति । स भावस्तस्य फलसाधको भवति । अथवा। विकल्पेनोभयोः कथनाद्भगवदिच्छया कस्यचित्सेवायामेव दृढासक्तिर्भवति । कस्यचित्तस्य लीलायामेव दृढासक्तिर्भवति । परन्तु सासक्तिर्यावज्जीवमपेक्षिता, न तु यत्किञ्चित्कालम् । **तस्येति** पदाद्भगवदिच्छया सेवासक्तस्य कथासक्तस्य च क्वापि नाशो न भवति । तन्मार्गीयफलप्राप्तौ अन्तरायो न भवतीति मम मतिर्मदीया मतिः । तेन स्वमते फलविलम्बाभावे हेतुत्वकथनेन फलप्राप्तौ निःसंदिग्धत्वमुक्तम् ॥ ९ ॥

एवं पूर्वश्लोके सेवासक्तकथासक्तयोः फलमुक्त्वा कदाचित्कश्चित् सेवासक्तं कथासक्तं भक्तं दृष्ट्वा स्वयमप्यासक्तिव्यतिरेकेण उत्साहमात्रेण सेवां कर्तुमिच्छति तस्य बाधः संभवति, तत्र बाधस्वरूपं तन्निवारणप्रकारं चाहुः **बाधसंभावनायां त्विति** ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधसंभवे प्रकारान्तरेण बाधाभावव्युदास उक्तस्तुशब्देन । सेवाकरणे दृढासक्त्यभावात् उद्वेगेन भोगासक्त्या वा बाधसंभवे सति स्वस्य सेवाकरणासक्तिजनितग्लान्या मत्तः सेवा न भवतीति मया गृहं त्यक्त्वा एकान्ते भगवन्नामस्मरणादिकं कर्तव्यमिति बुद्ध्या यद्येकान्ते स्थितिं कर्तुमिच्छति, तादृशस्यापि सेवात्यागपूर्वकैकान्तस्थितिरनुचितेति निषेधमाहुः **नैकान्ते वास इष्यत** इति । सेवां विहाय तस्यैकान्तवासो नेष्टः, सेवाकृतिरेवेष्टा । उद्वेगादिना प्रतिबन्धे कथं सेवाकरणं भवतीति चेत्तत्र समाधानमाहुः **हरि-**

१ भक्तिरिति पाठः ।

स्त्विति । उद्वेगादिकमपि सोढ्वा यदि सेवामेव कुर्यात्तदा भगवान् तस्य सेवाग्रहं दृष्ट्वा स्वस्य सर्वदुःखहरणसामर्थ्यं प्रकटीकृत्य सेवाविघातोद्वेगादिकं दूरीकृत्य सेवासंपत्तिमेव कारयेदिति ज्ञापनार्थमुक्तं **हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय** इति । 'न संशय' इति कथनाद्यद्यस्मिन्नर्थे संशयं कुर्यात्, तदा भगवानपि रक्षां न कुर्यादितीत्यर्थः । अत एव गीतास्वपि भगवतोक्तं 'संशयात्मा विनश्यती'ति । तस्मादस्मिन्नर्थे निःसन्दिग्धो भूत्वा 'भगवान् रक्षां करिष्यत्ये'वेति बुद्ध्या यदि सेवां कुर्यात्तदा भगवानपि रक्षां करोत्येवेति ज्ञापनायोक्तं 'न संशय' इति । प्रकारान्तरेण रक्षाऽभावज्ञापनाय तुशब्दः । कथापरस्यापि बाधसंभावनायां पूर्वोक्तव्यवस्थेति ज्ञातव्यम् ॥ १० ॥

एवं स्वमार्गीयभक्तिप्रवृद्धिप्रकारमुक्त्वा तस्योपसंहारमाहुः **इतीति** ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवतः पुरुषोत्तमस्य भक्तिवृद्धिशिक्षाप्रकारकं शास्त्रं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । शास्त्रस्वरूपमाहुः **गूढतत्त्व**मिति । गूढमत्यन्तं गुप्तं तत्त्वं वागविषयमनुभवैकवेद्यं स्वरूपं यस्य तादृशं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । एवं शास्त्रस्वरूपं निरूप्यैतदध्ययनकर्तुरपि यथैतन्मार्गीयं फलं सिध्यति तत्प्रकारकमध्ययनस्वरूपमाहुः **य एत**दिति । **य** इति सामान्योक्त्या नात्र वर्णाश्रमादिनियम उक्तः । एतद् भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं समधीयीतेति । अध्ययने सम्यक्त्वोक्त्या न केवलं पाठमात्रकरणम्, किन्तु प्रतिपदमर्थाभिप्रायविचारपूर्वकमध्ययनमुक्तम् । एवं विचारपूर्वकाध्ययनकरणे तत्प्रतिपाद्यार्थनिरन्तरानुसन्धानादन्तःकरणदोषनिवृत्त्या तन्मार्गस्वरूपस्य हृदि स्फुरणात्तन्मार्गस्य पुरुषोत्तमैकपरत्वात् तद्द्वारा स्वस्यापि तत्स्फूर्तौ भक्तिमार्गीयाचार्याङ्गीकारस्य सिद्धत्वात् तादृशस्यापि सुदृढा अत्यन्तं निश्चला रतिः रसभावयुक्तस्नेहो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

पितृपादनखालोकप्रकाशितधिया मया । स्वाचार्यचरणाख्येन विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ १ ॥
कृपया पितृपादाब्जैर्दत्ता मे यादृशी मतिः । तन्मया विवृतं भक्तिवृद्धिशास्त्रं सुदुर्लभम् ॥२॥
यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः । तत्कृपातो यथाबोधं विवृतानि न चान्यथा ॥३॥
बुद्धिदोषेण यद्यत्र व्याकृतौ चेद्विपर्ययः । क्षमन्त्वाचार्यचरणाः स्वकीयेषु दयालवः ॥ ४ ॥
श्रीवल्लभेन रचिता या विवृतिर्भक्तिवर्धिन्याः । चित्रं समस्ते लोके संजाता भक्तिवर्धिनी सापि ५

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

---

१. अयं श्लोकः पाश्चात्यः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्रघुनाथकृतविवृतिसमेता ।

वन्दे वृन्दावने वृन्दैर्गोपीनां वेष्टितं मुदा । हरिणीभिः कृष्णसारमिवाभातं तदीक्षणम् ॥१॥
अपारदुःखदावाग्निदग्धजीवनमीक्षितम् । यस्य तं यामि शरणं विठ्ठलेशमहं सदा ॥ २ ॥

अथ केनचित्परमपुण्येन प्राप्तमहापुरुषानुग्रहाद्भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य कदाचिदन्तरासंभाविततद्भङ्गस्याभावाय भक्त्युद्रेकोपायनिरूपणं प्रतिजानते **यथे**ति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येनोपायाचरणप्रकारेण भक्तिः पूर्वोक्तेन हेतुना अङ्कुरतां प्राप्य स्थिता सती प्रवृद्धा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता च स्वकार्यकरणक्षमा स्यात् भवेत्, तथा तेनैव प्रकारेण उपायः साधनं निरूप्यते, सोपपत्तिकं कथ्यत इत्यर्थः । अत्रायं भावः । यथा अन्तःस्थितबीजे क्षेत्रादौ सेचनादिबाह्योपायकरणं सफलं भवति, नानुप्तबीजे, एवमत्रापि भक्तिस्पृष्टान्तःकरणस्यैवैतदुच्यमानसाधनप्रवृत्त्यधिकारो, नान्यस्येति । इममेवार्थमुद्दिश्याग्रेप्याहुः **बीजभावे दृढे तु स्या**दिति । उक्तभक्तिप्रवृद्धिः कदेत्यपेक्षायां बीजभावे दृढे सम्पन्ने स्यात् । कुत इत्यपेक्षायां **त्यागात्** भगवदतिरिक्तविषयत्यागात् । श्रवणं च कीर्तनं च एकवद्भावात् श्रवणकीर्तनादित्येकवचनम् । ननु को नाम बीजभावः । उच्यते । भक्त्यसाधारणकारणं बीजमित्युच्यते । तच्च महदनुग्रहरूपम् । तस्य भावः सद्भावः तस्य दार्ढ्यं निश्चयः । यद्वा । बीजपदेन भगवानुच्यते । तस्मिन् भावस्तद्विषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धिः, भगवानेवाश्रयणीयो, नान्य इत्येवंरूपा । दार्ढ्यं तदनन्तर्हितत्वम् । तुशब्दः प्रसिद्धौ । तथैव वक्ष्यन्तीति च । 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यती'ति ॥

मर्यादामार्गीयाणां गृहस्थानां बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति** ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

गृहे स्थित्वा कृष्णं भजेदित्यन्वयः । कथं केनेत्याकांक्षाद्वयप्राप्तावाद्यायां **स्वधर्मतः**
स्वस्य यो धर्मः श्रुत्याद्युक्तो वर्णाश्रमधर्मः तत्सहितः सन् अव्यावृत्तो भगवद्भजनविरुद्धो
लोकवेदधर्मव्यासङ्गो व्यावृत्तिस्तद्रहितः सन्नित्यर्थः । केनेत्याकांक्षायां पूजया श्रवणादिभि-
रिति योज्यम् । अत्र प्रत्येकसमुदायाभ्यां पूजादिकं ग्राह्यम् । तत्र पूजा वेदपुराणोक्ता
ग्राह्या । ऋग्विधानाद्युक्तपुरुषसूक्तादिभिर्या सा वैदिकी । आगमपुराणाद्युक्तान्या । श्रवणं
तु श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासरामायणादिवाक्येभ्य एव । आदिपदेन चिन्तनलीलानुकरणादिकं
ज्ञेयम् । सर्वापेक्षया श्रवणस्य प्राधान्यं ज्ञेयम् । अत एव महाभारते श्रूयते 'सर्वाश्रमाभि-
गमनं सर्वतीर्थावगाहनम् । न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथे'ति । व्यावृत्तिराहित्येन
भजनासम्भवे उपायान्तरमाहुः **व्यावृत्तोपी**ति । व्यासक्तोपि सन् हरौ त्रिविधदुःखहरण-
शीले चित्तं विधाय पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत् यत्नं कुर्यादित्यर्थः । यतेदिति परस्मैपदं नाम-
धातुना ज्ञेयम् । भगवच्चरणारविन्दयोश्चित्तं संस्थाप्य बाह्यश्रवणादौ कृतस्य यत्नस्य निःफ-
लत्वेपि न स्वार्थहानिरिति भावः । अत एवैतद्वचनमपि 'क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोरावि-
ष्टचित्तो न भवाय कल्पते' इति । हरौ चित्तमित्यनन्तरं क्रियापदमध्याहृत्याग्रे योजनीयम् ।
सदेत्येतदुभयत्र सम्बध्यते । एवंकृते यद्भवति तदाहुः **तत** इति । **प्रेम** स्नेहः । **आ-**
सक्तिस्तद्विना स्थातुमशक्तिः । व्यसनं स्वभावत एव तद्वार्तादिरुचिर्नान्यप्रेरणतः । इदं
सर्वं यदा भवेत्सम्पद्यते तदेतत्त्रितयसम्पत्तिरूपशास्त्रे भगवच्छास्त्रे दृढं बीजमिति व्यव-
ह्रियते । दार्ढ्यमेव स्पष्टीक्रियते **यन्नापि नश्यती**ति । प्रेमादीनामसा धारणं तत्तत्कार्य-
माहुः **स्नेहा**दिति । **रागो** भगवदतिरिक्तविषयकः । **गृहारुचि**रिति । गृहे अरुचि-
रनासक्तिः । गृहस्थानामिति । गृहविषयकरागाद्यभावे स्त्रीपुत्रादिपोषणासम्भवरूपदोषोद्भाव-
नेनाविवेकिनां गृहस्थानां परमपुरुषार्थसाधकयोरप्यनयोर्धर्मयोर्बाधकत्वमेव भासते । अन-
धिकारित्वात् अनात्मत्वं चेति । आत्मनो भाव आत्मत्वम् । भावपदेन स्वाभाविकधर्म
उच्यते । तेन नायमात्मनः स्वधर्म इत्येवं भासते । वस्तुतस्तु ज्ञानं तेषां नास्तीति
ज्ञापनार्थं भासत इत्युक्तम् । व्यसनकार्यमाहुः **यदा स्या**दिति । यस्मिन्काले स्वभावतो
यत्किञ्चित्क्रियमाणमपि भगवद्विषयकमेव स्फुरति, तदा किं वक्तव्यं कृतार्थतायामित्यर्थः ।
हिशब्दः प्रह्लादादौ प्रसिद्धिद्योतनार्थः । प्रह्लादस्यैवंविधत्वं विष्णुपुराणे श्रूयते । 'या

प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पत्वि'ति । **तादृ-**
शस्यापीति । उक्तस्नेहादिमतोपि गृहस्थस्य गृहरूपं स्थानं सततं सर्वदैव विनाशकं
विनाशहेतुः । स्नेहादिसम्पत्तेः पूर्वमेव विनाशकत्वेपि तत्सम्पत्त्यनन्तरं तथा न भविष्यतीति
मनसि गृहस्थैर्न धार्यमिति भावः । अत्र विनाशकत्वं प्रतिबन्धकत्वमेव । यद्वा । तादृ-
शस्यापि सततं गृह एव स्थानं स्थितिरिति । ईदृशगृहस्थेन मध्ये मध्ये भगवद्भक्तपुण्यक्षेत्र-
नद्यायतनेष्वटनं कार्यम् । न तु गृहमात्रैकस्थितिशीलतया भाव्यमिति भावः ॥ ६ ॥
पूर्वं गृहस्थितस्यैव श्रवणाद्युक्तमिदानीं तस्य बहुप्रतिबन्धकत्वानुसन्धानेन समी-
हितासिद्धिमाशङ्क्य निःप्रत्यूहोपायमाहुः त्यागं कृत्वेति । लभेतेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

यः पुरुषः सकलदुःखाकरगृहत्यागं कृत्वा पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत्, सः
सुदृढामत्यन्तदृढामन्यैः प्रतिबन्धसहस्रैरप्यतिरस्कृताम् । सर्वतोपि ज्ञानादिभ्योप्यधि-
कामधिकफलदायिनीं परां भगवत्प्राप्तेश्चरमकारणभूतां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ।
तं विशदयन्ति **तदर्थार्थैकमानस** इति । स भगवानेवासावर्थश्च तदर्थः, अर्थः
प्रयोजनं उद्देश्यमिति यावत् । स चासावेकश्चार्थः । तदर्थः स एवार्थैकः, तदर्थार्थैकः,
तस्मिन्मानसं मनो यस्येति । एवंविधः सन् यतेदिति पूर्वेणान्वयः । यतेदिति घञर्थं
कं कृत्वा पश्चात् नामधातुत्वात्परस्मैपदं ज्ञेयम् । ननु त्यागरूपोपाये विद्यमाने किम-
न्योपायकथनमित्यत आहुः **त्याग** इति । त्यागसिद्धौ सर्वं सुकरम् । सैव तु नोपपद्यते ।
तत्र हेतुः । बाधकानां प्रतिबन्धकानां भूयस्त्वं बाहुल्यादित्यर्थः । तत्र हेतुः **दुःसं-**
सर्गात् । दुष्टानां भगवद्बहिर्मुखाणां यः संसर्गः सम्बन्धः शारीरादिस्तस्मादित्यर्थः ।
तथैवान्नतः दुष्टादन्नादित्यर्थः । अन्नदोषास्तु पञ्चमहायज्ञाकरणाद्भगवद्निवेदनाच्चोद्भवन्तीति
ज्ञेयम् । श्रुतिरपि 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः । सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य । नार्यमाणं
पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी'ति । अर्थस्तु अप्रचेताः मूढः मोघं
व्यर्थमन्नं विन्दते प्राप्नोति । यतः सो अन्नलाभस्तस्य वध एव । इदं तु सत्यमेवाहं ब्रवीमि ।
न मृषेत्यर्थः । किञ्च । अर्यमाणं सूर्यं न पुष्यति, देवयज्ञाकरणात् । उपलक्षणमेतत्,
देवतामात्रमपि । सखायं अतिथिं नो न पुष्यति, मनुष्ययज्ञाकरणात्, किन्तु स्वयमेव
अश्नाति, अतः केवलादी पुमान् केवलाघ एव भवति । तदन्नं नास्ति, किन्तु पापमत्तीत्य-
र्थः । इममर्थं भगवानप्याह 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जन्ते ते त्वघं
पापा ये पचन्त्यात्मकारणा'दिति । अनिवेदितभक्षणेपि दोषः श्रूयते । 'अम्बरीष नवं वस्त्रं
फलं अन्नाद्यमौषधम् । अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी'ति पुराणान्तरे ॥ ७ ॥

त्यागस्याशक्यत्वं उक्त्वा सुशक्योपायमाहुः अत इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

उक्तहेतोर्हरिस्थाने भगवदधिष्ठितप्रदेशे तत्परैर्भगवदेकपरैः तदीयैर्भगवदीयैर्भक्तैः सह अदूरे नैकट्यं यथा स्यात्तथा स्थेयमित्यर्थः । अतिनैकट्यासम्भवे विप्रकर्षे वा, किञ्चिद् दूरेपि स्थेयम्, नत्वतिदूर इति भावः । नन्वेवं स्थितौ किमत आहुः यथेति । येन प्रकारेण स्थितिरुक्ता तथाकरणे चित्तमन्तःकरणं न दुष्यति, न दोषग्रस्तं भवतीत्यर्थः । एवं भगवदीयैः सह स्थितौ यस्य परमभाग्यवतः सेवायां स्वशरीरसाध्ये भगवद्भजने कथायां तद्गुणश्रवणे वा आसक्तिः तद्विहाय स्थातुमशक्तिः दृढा निश्चला भवेत् तस्य पुंसो यावज्जीवं आदेहपातं क्वापि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा नाशः अन्यथाभावो न भवतीति । अस्मिन्नर्थे मम मतिः सम्मतिरेवेत्यर्थः । वाशब्दावन्योन्यं समुच्चिनुतः ॥ ८ ॥ ९ ॥

नन्वेवं सति पूर्वोक्तत्यागस्य वैयर्थ्यमेवेत सार्थकत्वमपीत्याकांक्षायामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे सर्वथा बाधः सम्भावितश्चेद्भवेन्न तत्कृतस्तदा एकान्ते वासः सर्वत्यागपूर्विका स्थितिररण्यादौ नेष्यते न सम्मतेत्यर्थः । तदभावे त्विष्टैवेति भावः । नन्वेकान्तस्थितौ व्याघ्रादिभिरपमृत्युरपि सम्भाव्यते, वरं तदपेक्षया गृहस्थितिरित्यत आहुः हरिस्त्विति । हरिशब्दार्थस्तु पूर्वोक्तोनुसन्धेयः । तुशब्दः प्रसिद्धौ । सर्वतः सर्वदुःखहेतोः रक्षणं करिष्यत्येव, न संशय इत्यर्थः ॥ १० ॥

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

उपसंहरन्ति । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवत्सम्बन्धिशास्त्रं शिक्षणम् । गूढं गुप्तं तत्त्वं यस्य तादृशं निरूपितम् । यः पुमानेतदुक्ताचरणेऽशक्तः सन्नेतच्छास्त्रमुपादित्सुः सम्यगधीयीत, अर्थानुसन्धानपूर्वकं पठेत्, तस्याप्येतच्छास्त्रोक्ता रतिर्दृढा भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य तदुद्रेकाय साम्प्रतम् । आचार्यस्यास्यतोद्भूता विवृता भक्तिवर्धिनी ॥१॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ भक्तिवर्धिनीविवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेता ।

वामे करे गिरिं स्त्रीषु मुदमिन्द्रे च साध्वसम् । धारयन्तमहं वन्दे चित्रं गोपेषु गोप्रियम् ॥१॥
यदङ्गीकृतितो भक्त्या स्वानन्दं नन्दनन्दनः । ददाति तान्प्रभून् वन्दे सर्वकामार्थसिद्धये ॥ २

श्रीकृष्णभक्तिस्पृष्टान्तःकरणानां स्वकीयानां तत्फलविलम्बासहिष्णवः श्रीवल्लभाचार्या एकादशेन्द्रियशोधिका भक्तिरित्येकादशभिः श्लोकैर्भक्तिप्रवृद्ध्युपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नुयात्तेन प्रकारेण साधनं विनिरूप्यत इत्यर्थः।[1] वृद्धौ प्रकर्षोत्र फलोन्मुखत्वम् । भक्तिप्रवृद्धेरुत्तरावधिः क इत्याकांक्षायामाहुः **बीजभावे दृढे तु स्यादिति** । बीजरूपो भावोऽल्पस्नेहः, तस्मिन् दृढे व्यसनात्मके सति प्रवृद्धिः पूर्णा स्यादित्यर्थः । भावे बीजत्वोक्तिः फलेऽस्य निदानत्वबोधनाय । प्रथमतस्तत्र किं साधनमित्याकांक्षायामाहुः **त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति** । भक्तिमार्गविरोधिनोऽन्यभजनादेस्त्यागात् । श्रवणं कीर्तनं च ताभ्याम् । इदमुपलक्षणम् । स्मरणमाचार्यभक्तिर्विश्वासश्चेत्यपि ज्ञातव्यम् । श्रवणकीर्तनयोरेकवद्भावः कर्मणोरिव नात्र विरोध इति ज्ञापयति । न हि यथैकस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे नान्यत् क्रियते, तथा श्रवणकीर्तनयोरपि ॥ १ ॥

भक्तिप्रवृद्धौ साधनान्युक्त्वा प्रकारमाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति** ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजरूपस्य भावस्य दृढतासिद्ध्यर्थमयं वक्ष्यमाणः प्रकारः । इममेवाहुः । गृहस्थितेर्भजनानुकूलत्वात् । 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेणे'त्यादिवाक्यैः स्ववर्णाश्रमाचारधर्मेण गृहे स्थित्वा व्यावृत्तिः कार्यान्तरव्यासङ्गस्तद्रहितोऽव्यावृत्तः । श्रवणादिभिः सहितया परिचर्यया कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् । कृष्णपदात्फलत्वेन भजनं,

[1] साधनमपि निरूप्यत इति पाठः ।

न साधनत्वेनेति ज्ञाप्यते । तत्राद्युक्तपूजायां शीतलशंखोदकस्नानादिमत्त्वेन भक्तिमार्गीयाणामनधिकारात् । स्नेहाभावे सेवापि पूजातुल्येव भातीति ज्ञापनार्थो पूजापदोक्तिरत्र ज्ञेया ।

'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर' इत्यादिवाक्यैर्भगवद्भजनाभावे जन्मादिवैयर्थ्यात् व्यावृत्तिराहित्येन सेवाया असंभवेपि यथासंभवं शक्त्यनुसारेण श्रवणादिकमेव कार्यम्, नत्वन्यथा स्थातव्यमित्याशयेनाहुः **व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति ।**

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्यान्तरव्यासक्तोपि हरौ दुःखहरणशीले चित्तं निधाय श्रवणादौ यत्नं कुर्यादित्यर्थः । यत्नु प्रयत्ने । यतेदिति पाठे अनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात् साधुत्वम् । एवं वर्तमानस्य प्रेमादिकं भवतीत्याहुः **ततः प्रेमेति** । भगवत्सेवया श्रवणादितोपि चित्तासङ्गावस्थावत् प्रेम भवति । स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते । प्रेमानन्तरं तथा पूर्वोक्तादेव सङ्कल्पावस्थावदासक्तिर्भवति । स्वविषये विविधमनोरथजनको भाव आसक्तिः । व्यसनं च यदा प्रभुकृपया भवेत्, तदा तद्बीजं बीजरूपो भावः शास्त्रे भगवच्छास्त्रे दृढमन्यापरिभूतमुच्यते, यत्फलं जनयति, दुष्टसंसर्गादिना नश्यत्यपि न । व्यसनं स्वविषयं विना स्थातुमशक्तिजनको भावः ।

प्रेमासक्त्योर्ज्ञापके आहुः **स्नेहादिति ।**

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

यथा यथा भगवति स्नेहस्तथा तथान्यत्र हीयत इत्यर्थः । भगवत्यासक्त्या भगवदनुपयोगिगृहादिषु अरुचिरप्रीतिर्भवति । भगवति प्रेमासक्त्योः सर्वपुरुषार्थसाधिकयोरपि गृहस्थानां गृहासक्तानामविवेकिनां गृहादिषु रागाभावजनकत्वेन स्त्रीपुत्रादिपोषणासंभवरूपदोषोद्भावनेन बाधकत्वं, स्वस्य प्रवृत्तिमार्गस्थत्वेनानात्मधर्मत्वं च भासते । अथवा । सर्वेषामात्मरूपे हितकारिणि भगवत्यनात्मत्वं भासते । वस्तुतस्तु 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'किमलभ्यं भगवती'त्यादिवाक्यैस्तेषां भगवानेवैहिकपारलौकिकसाधक इति तेषामेवेदमज्ञानमिति भासत इत्युक्तम् ।

यदा कृष्णे पूर्णानन्दे व्यसनं स्यात्, तदैव जीवः कृतार्थः पूर्णार्थः स्यात् । एवकारेण प्रेमासक्त्योर्व्युदासः । हि युक्तोयमर्थः । यतः तादृशस्यापि प्रेमासाक्तिमतोपि सततं निरन्तरं गेहस्थानं गेह एवावस्थानं विनाशकं भावस्येति शेषः । तेन सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमिति भावः ।

भक्तिप्रवृद्धिसाधने प्रकारान्तरमाहुः **त्यागं कृत्वेति ।**

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

यस्तु पुरुषो गृहे भगवद्भजनप्रतिबन्धं ज्ञात्वा गृहत्यागं कृत्वा श्रवणादौ यतेत् यत्नं कुर्यात् । 'यतेदि'ति पाठे पूर्ववज्ज्ञेयम् । तदर्थार्थैकमानसः तदर्थं भगवन्निमित्तं योर्थः श्रवणादिः तस्मिन् । यद्वा । भगवतोर्थः प्रयोजनं लीला तदर्थार्थं तन्निमित्तं एकमनन्यं मानसं यस्य एतादृशः सन् सुदृढां विषयाद्यपरिभूतां सर्वतोपि ज्ञानयोगादिभ्योप्यधिकामधिकफलदायिनीं परां प्रेमलक्षणां फलरूपां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः । तर्हि निर्विघ्नेस्मिन् प्रकारे विद्यमाने किमर्थं प्रकारान्तरमाश्रयणीयमित्यत आहुः **त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति** । दुःसङ्गसर्गात् । दुष्टानां भगवद्बहिर्मुखादीनां सहभोजनादिना सङ्गात् । तथान्नतः दुष्टान्नात् । वैश्वदेवभगवच्चरणामृतप्रक्षेपादिनाप्यन्नदोषनिवृत्तेः संभवात्सङ्गदोषोऽधिक इति तस्य प्रथमनिर्देशः । गृहत्यागे बाधकभूयस्त्वं बाधकानामन्तरायहतूनां बाहुल्यमस्ति, तेन यावद्गृहे भजनं संभवति, तावद्गृहत्यागो न कर्तव्यः, सर्वथा भजनाऽसंभवे कर्तव्यः । तदुक्तं श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति ।

तेन गृहस्य त्यागेऽत्यागेपि यावद्व्यसनं संपद्यते, तावत्सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमित्याहुः **अतः स्थेयं हरिस्थान इति ।**

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तं बाधकमतः कारणात् हरिस्थाने व्रजमथुरादौ तदीयैर्भगवन्मार्गस्थैरनन्यैः तत्परैः सेवाकीर्तनादिना भगवत्परैः सह अदूरं निकटं यथा भवति तथा स्थेयम् । भक्तिनिकटस्थित्यसंभवे दूरेपि स्थित्वा तदनुसरणं कर्तव्यमित्याहुः **विप्रकर्षे वेति** । भक्तिमार्गस्थत्वाभावे त्ववैष्णवसङ्गात् स्वस्य कार्यं न सिध्येत्, तत्परत्वाभावे भगवत्सेवाकथाद्यभावात् स्वस्य लाभो न स्यादिति द्वयमुक्तम् । निकटे दूरे वा स्थित्वा तादृशभगवदीयानुसरणे तत्कृपया चित्तं दुष्टं न भवतीत्याहुः **यथा चित्तं न दुष्यतीति ॥ ८ ॥**

एवं सत्सङ्गे सति केवलमनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्त्विष्टप्राप्तिरपि भवतीत्याहुः सेवायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यवाज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य महत्कृपया सेवायां स्वशरीरसाध्यश्रीकृष्णभजने, कथायां तद्गुणलीलादिश्रवणे दृढा विषयाद्यनभिभूता आसक्तिर्भवेत्, यावज्जीवमादेहपातं, तस्य क्वापि कुत्रापि देशे कालेपि नाशः भगवद्भजनाननुरूपफलप्राप्तिर्न भवति । अथवा । भावस्य नाशो भावान्तरोत्पत्तिर्वा न भवति **इति मम मतिः** । प्रभुः कृपया को वेद किं दास्यति । वाशब्दावनुक्तस्मरणादिसमुच्चयार्थौ ॥ ९ ॥

ननु भगवदीयानामपि सङ्गः किमर्थं कर्तव्यः, एकाकिना अरण्यादौ भगवल्लीलादि चिन्तनं कुर्वता कथं न स्थेयमित्यत आहुः **बाधसम्भावनायामिति** ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः तं पक्षं व्यावर्तयति । बाधोत्र चित्तोद्वेगविक्षेपादिः, स चेन्न सम्भवति तदा तथैव स्थेयम् । बाधसम्भावनायां सत्यामेकान्तेऽरण्यादौ वासो नेष्यते, न इष्टः । नवांतनबाधाभावेपि बहिश्चौरव्याघ्रादिभयसम्भवे सति कथं स्थेयमित्यत आहुः **हरिस्त्विति** । सर्वदुःखहर्ता प्रभुः सर्वतः सर्वस्मात् सुदर्शनादिना रक्षां करिष्यति । 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।' 'न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यैरस्मिन्नर्थे न संशय इत्यर्थः ॥ १० ॥

श्रीवल्लभाचार्याः सगुणनिर्गुणभेदेन दशधा भक्तिरिति दशभिः श्लोकैर्भक्तिवर्धिनीप्रक्रियां निरूप्य, एतदुक्ताचरणैतत्पाठयोः फलमाहुः **इत्येवमिति** ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीदं गूढं गुप्तं तत्त्वमनारोपितं रूपं यस्यैतादृशं भगवच्छास्त्रं भक्तिप्रतिपादकम् । अथवा । गूढतत्वं यथा स्यात्तथा, एवममुना प्रकारेण निरूपितम् । य एतदुक्तमाचरेत्तस्य भगवति दृढा रतिः प्रीतिः स्यात् । यो वैतदुक्ताचरणाशक्तः स त्वेतद्भक्तिवर्धिनीरूपं समधीयीत श्रद्धाभक्तिपूर्वकं पठेत् । तस्याप्यग्रे दृढा रतिः स्यादित्यर्थः ।

श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दात्मजेन वै । गुरून् नत्वा यथाबुद्धि विवृता भक्तिवर्धिनी ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीहरिरायविरचितभक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीवल्लभाचार्यपदानुकम्पाबलेन किञ्चित् परिचिन्त्य चित्ते ।
निरूप्यते भक्तिविवृद्ध्युपायनिरूपणग्रन्थनिरूपितोर्थः ॥ १ ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थाभ्यां भक्तिः सप्रेमसेवनम् । चेतस्तत्प्रवणं तच्च तनुवित्तप्रसाधितम् ॥ २ ॥
तत्र मूलं हरेरंगीकारोथ शरणागतिः । ततः समर्पणं जीवदेहसंबन्धिवस्तुनः ॥ ३ ॥
ततो योग्यत्वसम्पत्त्या सेवनं तु प्रवर्तते । पूर्वोक्तरूपतद्वृद्धिस्तनुवित्तजसेवनात् ॥ ४ ॥
तदुपायापरिज्ञाने सा कथं वृद्धिमेष्यति । अतस्तद्वृद्ध्युपायोत्र ग्रन्थे प्रभुभिरुच्यते ॥ ५ ॥
यथा येन प्रकारेण चेतस्तत्प्रवणात्मिका । भक्तिर्व्यसनपर्यन्तं वृद्धा भवति सर्वथा ॥ ६ ॥
तथा तेन प्रकारेण य उपायः स कथ्यते । उपायस्तु स एवात्र तनुवित्तजसेवनम् ॥ ७ ॥
त्यागात्यागविभेदेन गृहे भक्तगृहे तथा । बीजभावः प्राथमिको यतः सेवा प्रवर्तते ॥ ८ ॥
स्वामिसेवकभावात्मा तद्दार्ढ्याद्वृद्धिसंभवः । अथवा त्यागपक्षेण कृतश्रवणकीर्तनात् ॥ ९ ॥
अनायासेन सुदृढभक्तिप्राप्तिर्न संशयः । अत्यागपक्षे क्रमशो भक्तिवृद्धिरिहोच्यते ॥ १० ॥
अतो हि बीजदौर्बल्यस्य प्रकारोत्र निरूपितः । गृहे स्थितिः स्वधर्मेण वर्णाश्रमगतेन हि ॥ ११ ॥
विधेया नापि सेवार्थमधर्मेण कथञ्चन । अधर्मे स्थितितो बुद्धिनाशाद्दुःसङ्गतस्तथा ॥ १२ ॥
ततो दुष्कर्मकरणे चेतस्तत्प्रवणं कुतः । अतस्तथाविधं कृष्णं सदानन्दं परं बृहत् ॥ १३ ॥
लोकवेदफलाद्यर्थव्यावृत्तिरहितो जनः । भजेत्सेवेत तन्वाद्यैस्तत्र व्यावृत्तियोजनम् ॥ १४ ॥
प्रेम्णैव भजनं तत्र माहात्म्यज्ञानसिद्धये । पूजा प्रोक्ता निबन्धे या मन्त्रादिरहिता हरौ ॥ १५ ॥
बाहिर्मुख्योद्भवाभावसिद्धये श्रवणादयः । अयं तु मुख्यकल्पो हि सर्वथा साधको मतः १६
यथा रोगशतार्तस्य कुपथ्यरहितौषधम् । एवंविधस्य निर्वाहं स्वयमेव करोति हि ॥ १७ ॥
योगक्षेमोद्वहे स्वीयप्रतिज्ञापरिपालकः । सेवकस्यापि विश्वासः कर्तव्योऽवश्यमेव हि ॥ १८ ॥
नहि सेवकनिर्वाहं विदधाति न हि प्रभुः । तथापि जीवप्रकृतिवशतो न त्यजत्यसौ ॥ १९ ॥
व्यावृत्तिं दृढविश्वासाभावतो लोकवेदयोः । तस्य भक्तिप्रवृद्ध्यर्थमनुकल्पोपि रूप्यते ॥ २० ॥

---

१ कारणमित्यर्थः । २ यथा वृक्षबीजे सूक्ष्मरूपेण फलपर्यन्तावस्थास्थितौ वृक्षस्य फलपर्यन्ता वृद्धिः स्थूलरूपस्य भवति, तथा भक्तिबीजे स्वामिसेवकभावे व्यसनपर्यन्तावस्थानां सूक्ष्मरूपेण स्थितौ भक्तिद्रुमस्य स्थूलरूपस्य व्यसनपर्यन्ता वृद्धिर्भवतीति भावः । ३ स्थूलस्येति शेषः । ४ तदनन्तरमित्यर्थः ।

व्यावृत्तिसहितो वापि चित्तमात्रं हरौ परे । सर्वकार्येषु सततं यत्नेन स्थापयेत्पुनः ॥ २१ ॥
तथापि भगवत्कार्यातिरिक्त उपयोगिनि । तथाभावाभाववतां चित्तवैमुख्यसंभवः ॥ २२ ॥
तदर्थं स्थापयेत्तत्तु श्रवणादावपि स्वतः । एवंविधा तु सततं प्रेमासक्तिक्रमेण हि ॥ २३ ॥
भवेद्व्यसनसंसिद्धिः प्रवृद्धासौ तदा रतिः । यदेति वचनात्तत्र व्यसनं दुर्लभं मतम् ॥ २४ ॥
प्रभुणापि यतो दत्तं रासस्थास्वेव तत्पुनः । यद्धि व्यसनपर्यन्तावस्थं बीजं तदुच्यते ॥ २५ ॥
बीजं भावात्मकं शास्त्रे दृढं सङ्गान्न नश्यति । कुत उत्पादयेद्भावान्तरमित्यपि नोदितम् २६
आसक्तावपि दुःसङ्गो बाधकत्वेन चोदितः । श्रीस्वामिनीभिरप्युक्तं पञ्चाध्याय्यां प्रभुं प्रति २७
त्वयाभिरमिताः स्थातुं पारयामोन्यतो न हि । विवृतं तत्तथाचार्यैर्व्याघ्रदेहिनिदर्शनात् ॥ २८ ॥
किं प्रेम का तथासक्तिः किं वा व्यसनमुच्यते । व्यतिरेकमुखेनैव तल्लक्षणमुदीर्यते ॥ २९ ॥
नहि भावे हरिर्वाच्यो 'यतो वाच' इति श्रुतेः । निषेधमुखतो वाच्यो नेतिनेतीति वाक्यतः ॥३०॥
यतो रागविनाशः स्यादौदासीन्येन च स्थितिः । हरिभिन्ने विना हेतुं स भावः प्रेमशब्दितः ३१
आसक्तिर्येन भावेन गृहादिष्वनुयोगिषु । अप्रीतिश्च तथा तेषां गृहस्थानां निरोधनात् ॥ ३२ ॥
प्रियान्तिकगतौ तेषु बाधकत्वेन बोधनम् । स्वासंबन्धितया भानं स भावः सा निगद्यते ॥ ३३ ॥
स्वबाधकतया वापि यदा स्फूर्तिर्निवर्तते । गृहस्थानां तदा कृष्णे व्यसनं तदुदीर्यते ॥ ३४ ॥
तदैव पूर्णसर्वार्थो हृद्याविर्भावतो हरेः । अपेक्षिता शरीरस्यालौकिकस्याप्तिरुत्तमा ॥ ३५ ॥
तदभावे तादृशस्य निरन्तरगृहस्थितिः । बहिःसंवेदनाद्भावनाशिका समुदाहृता ॥ ३६ ॥
अस्याप्येवं तदान्येषां का वार्तेत्यपि नोदितम् । अतस्त्यक्त्वा गृहं क्वापि भगवत्सन्निधौ स्थितिः ३७
कार्या कदाचिन्न ततो भवेद्भावविनाशनम् । एवमेकप्रकारो हि भक्तिवृद्धेरुदीरितः ॥ ३८ ॥
दृढभक्तिप्राप्तिफलो द्वितीयोपि निरूप्यते । भार्यादिप्रातिकूल्येन गृहे सेवाद्यसम्भवे ॥ ३९ ॥
त्यागं कृत्वा तु यः सेवायत्नं कुर्यात्स दुर्लभः । हर्यर्थमात्रचित्तस्तु नांशतोऽन्यगमानसः ॥ ४० ॥
अनेनास्मिन्नपि प्रोक्ता कल्पेऽव्यावृत्तिरुत्तमा । लभते च स्वतः सिद्धदार्ढ्यां भक्तिं परां हरौ ४१
मोक्षादितो भक्तितश्चाधिकां व्यसनरूपिणीम् । ननु त्यागं विधायैव कुर्याच्छ्रवणकीर्तने ४२
किमर्थं सेवना कार्या तनुवित्तयुता हरेः । चेतस्तत्प्रवणं सेवा सा तु तैरपि सिध्यति ॥ ४३ ॥
इति चेन्न यतस्त्यागे बाधकानन्त्यमीक्ष्यते । दुःसंसर्गान्नदोषाभ्यां दोषहेतुतया तयोः ॥४४॥
अतो यया न दुःसङ्गदुष्टान्ने प्रतिबन्धके । स्यातां तथा हरिस्थाने देशदोषनिवारके ॥ ४५ ॥
स्थेयं यतो हरिर्भक्तदुःखाभावाय हि स्थितः । तत्रापि चित्तदोषस्य सर्वथा विनिवृत्तये ॥४६॥
तदीयैः कृष्णसम्बद्धैः समर्पितनिजात्मभिः । तत्रापि कृष्णकथया सेवया चापि तत्परैः॥४७॥
यतः सत्सङ्गमो[2] भक्तधर्मबोधेन साधितः । तथा सहपदोक्त्यात्र सहभावेन[3] च स्थितिः॥४८॥

१ तथा च निरोधो व्यसनमिति भावः । २ भक्तधर्माः सत्सङ्गेन बुध्यन्ते, एवंप्रकारेण सर्वत्र सत्सङ्गमः साधित इत्यर्थः । ३ एकग्रामस्थित्यापि सहभावः सम्भवतीति सहस्थितिबोधनार्थं मूले सहपदमिति भावः ।

अन्यथा कृष्णसेवायाः कथायाश्चाप्यसम्भवः । यदि ते भगवद्भक्ताः कृपयेयुः स्वभाग्यतः४९
तदा दूरे तद्गृहे तत्सेवनाद्यैः सहस्थितिः । तदान्नदोषदुःसङ्गौ बाधेयातां न सर्वथा ॥ ५० ॥
तत्रैव देहनिर्वाहस्तत्सङ्गेनैव च स्थितिः । तथाविधमहाभाग्याभावेन यदि तादृशाः ॥ ५१ ॥
न स्थापयेयुर्निकटे विप्रकर्षे तदा स्थितिः । वाशब्दोक्त्या न कोप्यत्र विशेषः पक्षयोर्द्वयोः५२
यथाकथञ्चित्संतोष्याः सन्तः सन्मार्गवर्तिभिः । यथा तेषां सतां चित्तं न स्वस्योपरि दुष्यति।
तथा विनयसौजन्यसेवाभक्त्यादिभिः स्थितिः । अथवा स्वस्य वा चित्तं यथा तदुपरि स्वतः ५४
न दुष्यति तथा स्थेयं तद्दोषापरिभावनैः । यद्वान्यदीयसंसर्गं चित्तदोषकरं परं ॥ ५५ ॥
विहाय भगवद्भक्तैः सह स्थेयं विशेषतः । यथा प्रथमपक्षे तु प्रेमासक्त्यादिसम्भवे ॥ ५६ ॥
बीजदार्ढ्यं तथात्रापि सेवया कीर्तनेपि च । दृढासक्तौ न भावस्य देहादेर्वापि नाशनम् ५७
यस्येति दुर्लभा त्यागपक्षे प्रोक्ताधिकारिता । यतस्तस्मिन्हि कल्पे तु क्रमेणासक्तिसम्भवः ५८
अत्र तु स्यात्स्वतो दार्ढ्ययुता भाग्ये तथाविधे । क्वापीति पदतो लोकवेदौ भक्तिश्च रूपिता।
सम्यक्प्रकारकस्थित्या कीर्त्या लोके न नाशनम् । त्यागपक्षस्थितौ कर्मत्यागान्न श्रुतिनाशनम् ।
भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिमार्गे न नाशनम् । दुःसंसर्गान्नदोषौ च नैव प्रभवतो यतः ॥ ६१ ॥
तादृशस्यापीति वाक्ये यथापूर्वं गृहस्थितिः । बाधिकोक्ता तथात्रापि विच्छेदो बाधको मतः ।
यावज्जीवमिति प्रोक्तमत एव पदं पुनः । एतेन त्यागपक्षाणामन्यासक्तिर्निवारिता ॥ ६३ ॥
तथैव चात्र विच्छेदस्तदभावे न नाशनम् । मतिर्ममेति यत्प्रोक्तं तदभिप्राय ईदृशः ॥६४॥
कदाचिद्दूरदृष्टेन भगवत्प्रियरोषतः । दुर्बुद्धौ तदतिद्रोहाद्भगवत्प्रतिबन्धतः ॥ ६५ ॥
नाशोपीति यतो वाक्ये संदेहो विनिरूपितः । ननु त्यागं विधायान्यसङ्गः किमिति बोधितः ।
ज्ञानिनामिव संसर्गमात्रत्यागो न चोदितः । त्यागे त्वेकान्तवसतिर्विशेषेण च साधिका ॥६७॥
तत्रोत्तरं तु भावस्य बाधनं हृदयस्थितैः । कामादिभिर्जीवधर्मैर्यावत्सम्भाव्यते पुनः ॥ ६८॥
तावदेकान्तवासस्तु नेष्टो बाधानिराकृतेः । कामादयो भावनाभिर्नाशयन्ति क्षणान्मनः ६९
न तत्र दोषनाशाय सहायोस्ति रहःस्थितौ । भक्तिमार्गप्रकारेण हरिश्चापि तिरोहितः ॥७०॥
भक्तिमार्गीयकार्याय न व्यापकतया स्थितिः । अतो न रक्षकः कोपि तस्यैकान्तस्थितौ भवेत् ।
तुशब्देन ततोन्योपि त्यागपक्षोत्र सूचितः । अत्र प्रबलबाधोपि दुर्बलत्वेन रूपितः ॥ ७२ ॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपरे । अतो न रक्षकापेक्षा सिद्धत्यागे विधीयते ॥ ७३ ॥
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति वाक्यात्प्रभूदितात् । यदा तु साधनदशा तदापेक्ष्यं हि रक्षणम् ।
भक्तानां रक्षकः कृष्णो नान्य इत्येष निश्चयः । स तु सन्निहितो नित्यं लीलास्थाने तथा पुनः ।
यत्र वा भगवद्भक्ताः सेवया कथया युताः । स्वभावतो दुःखहर्ता निजाश्रितजनाश्रितान्७६
नोपेक्षते यतस्तत्र स्थेयं यत्र स्थितो हरिः । तत्रापि सर्वतो रक्षा नान्यसाध्या न संशयः७७

१ हरिस्थानवासपक्षादिदं पक्षान्तरं, न तु त्यागपक्षात् । २ अत्यागपक्षे । ३ हरिस्थानवासः, सेवापरता, कथापरता चेति त्यागे त्रय पक्षा उक्ताः । ४ मुख्ये सर्वथा त्यागपक्षे ।

यतः कालवशाः कालकर्मादिभ्यो न रक्षकाः । तुशब्देन स्वभावोपि हरेरेव निरूपितः ७८
संशयाभावकथनं तत्र भक्तवशो हरिः । भक्तभक्तानपि सतो रक्षति स्वगतानिति ॥ ७९ ॥
रक्षणं कालकर्मादेस्तथा भावान्तरादपि । पक्षद्वयेन भक्तेस्तु वृद्धिरेवं निरूपिता ॥ ८० ॥
इतिशब्दः समाप्त्यर्थोन्यप्रकारनिषेधकः । एतावता हि भगवच्छास्त्रमेव निरूपितम् ॥८१॥
यतस्तद्गूढतत्त्वं हि ततोन्येषां सुदुर्गमम् । तत्त्वमेतावदेवास्य तस्मिन्नत्र निरूपिते ॥ ८२ ॥
तदेव सकलं शास्त्रं निरूपितमितीरितम् । एतदध्ययनात्सम्यग्वृद्धिं याति रतिर्हरौ ॥ ८३ ॥
सम्यक्त्वं श्रद्धया भक्त्या तथा विश्वासतो गुरौ । य इत्यनेन वर्णादिनियमोधिकृतौ न हि ८४
अपिशब्देन कैमुत्यन्यायोप्यत्र निरूपितः । ग्रन्थपाठादपि रतेर्वृद्धिर्यत्र तदा किमु ॥ ८५ ॥
वाच्यमाचरणे साधु सभायामुपदेशने । तत्रापि भक्तिर्वृद्धापि दृढोक्ता पाठमात्रतः ॥ ८६ ॥
इति श्रीवल्लभाचार्यकरुणालब्धशक्तितः । स्वसन्तोषाय भावस्य पोषायातिप्रयत्नतः ॥ ८७ ॥
श्लोकरूपेण सर्वापि विवृता भक्तिवर्धिनी । यथामति निजाचार्यचरणाश्रयणादपि ॥ ८८ ॥
एतेनास्मत्कुलपतिः प्रभुः श्रीविठ्ठलेश्वरः । प्रसीदतु सदा दासे हरिदासे स्ववंशगे ॥ ८९ ॥

इति श्रीहरिदासविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणवारिरुहेभ्यो नमः । श्रीविठ्ठलपदपङ्केरुहेभ्यो नमः ।

यत्पदाम्भोजभजनाद्भवन्ति समसिद्धयः । कलयामि कृपावार्धिं तं प्रभुं भक्तिवृद्धये ॥
निधाय श्रीमदाचार्यचरणाब्जयुगं हृदि । तत्कृपातो यथाशक्ति व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥
भगवद्रसपीयूषपायिनो यत्कृपायुजः । भवन्ति..........भक्त्या तं श्रीविठ्ठलमाश्रये ॥
श्रीमत्कल्याणरायाख्याननुकम्पापयोनिधीन् । नमामि तातचरणानहं स्वाभीष्टसिद्धये ॥

अथ मायावादादिदुरध्वेति[2]वाजालमहेन्द्रजालजनितजनताव्यामोहमूलनिर्मूलेन समर्थामितागमनिगमान्तस्मृतिपुराणतत्त्वसूत्रादिप्रमाणशतप्रतिपन्नप्रपन्नजनप्रतिक्षणक्षेमंकरप्रभ्वाज्ञाप्रादुर्भाविततद्भक्तिमार्गेणातिकरालकलिकालविलुप्तकर्माद्यधिकारान् भगवदीयकृपादृक्पा-

---

१ 'तत्रापि भक्तिर्वृद्धापि प्राप्यते सुदृढा हरौ। पाठमात्रेण तेनैषा संसेव्या भक्तिवर्धिनी ।' इत्यधिकं क्वचित् । २ अत्राशुद्धमिव भाति ।

तसंजातभक्तिमार्गश्रद्धाद्याधिक्यसमधिगतैतदधिकारानपि भक्तितत्प्रवृद्धिकरोपायविशेषपरिचयाभावप्रभवप्रचुरक्लेशकरंबितान्तःकरणान्प्राणिनः समुद्दिधीर्षवः परमकृपालवः श्रीवल्लभाचार्यचरणा भक्तितत्प्रवर्धकोपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तेः प्रकृष्टा वृद्धिर्भवति, तथा तेन प्रकारेण उपायो निरूप्यते, विविच्य कथ्यत इत्यर्थः । ननु श्रीभागवतगीतादिषु भक्तितद्वृद्धिनिदानभूतदानव्रतादीनामुपवर्णितत्वेन तत एव तदवगतेरनर्थकमेतन्निरूपणमिति चेत् । अत्र वदन्ति । भक्तिर्हि द्विविधा, साधनरूपा फलरूपा च । तत्राद्यायां दानव्रताद्युपायपूर्वकत्वमिति तदुत्पत्तिवृद्धिप्रकाराः सुप्रसिद्धाः, न द्वितीयस्याः । अतस्तस्याः स्वयं प्रकटिताया वृद्धिप्रकारनिरूपणमुचिततरं भवतीति । वस्तुतस्तूभयविधभक्तिवृद्ध्युपाय एव निरूपणीयत्वेनात्राभिमत इत्याभाति, श्रवणकीर्तनाद्युभयसाधारणसाधनानामग्रेऽभिधानात् । न चैषामुभयरूपत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रफलत्वफलान्तरसाधकत्वप्रतिसन्धानपूर्वकविधानेनोभयरूपतायाः सम्भवात् । नन्वेवं सत्येतेषामन्यत्र निरूपितत्वेनात्रापि निरूपणे क्रियमाणे पौनरुक्त्यदोषो दुष्परिहर इति चेत् । न । अन्यत्र धर्मान्तरव्यतिकरेणानिर्लुठिताकाराणामेषां व्यक्तमवश्यं वक्तव्यतयोक्तदोषस्य वक्तुमनुचितत्वात् । न पुनरुक्तता महान्दोषः, शतकृत्वोपि पथ्यं वक्तव्यमिति न्यायात् । भक्तिप्रवृद्धिः कदा भवेदित्याकांक्षायामाहुः **बीजभावे दृढे तु स्यादिति** । बीजभावे स्वल्पस्नेहे दृढे व्यसनरूपे सति भक्तेः सर्वांशेन वृद्धिर्भवेदित्यर्थः । यद्वा । बीजभावे स्वाचार्यानुग्रहसंसिद्धभगवन्निवेदनानन्तरभाविभगवदङ्गीकारे दृढे अतिस्थिरे केनाप्यचाल्ये सति सा स्यादित्यर्थः । न च भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वाद् ज्ञानेनैव तदवाप्तेर्भक्तिवृद्धिरनभिलषितेति वाच्यम् । भक्तेः स्वतन्त्रफलत्वेन तद्वृद्धेः सर्वाकांक्षणीयत्वात् । कथमन्यथा मुक्तमूर्धाभिषिक्तः श्रीशुको भृशं भक्तावनुरक्तोऽभूत् । कथं वानारतनिवृत्तिनिरताः सनकादयोपि भक्तावत्यासक्ता आसन् । अत एव 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्च' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ती'त्यादिवाक्यानि । नापि भक्तिं विना कृतं ज्ञानं कैवल्यकरणीभवितुमर्हति, भक्तिसहितस्यैव तस्य मुक्तिसाधकत्वात् । 'श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्ये'ति वाक्यात् । ननु यथाकथञ्चिन्मुक्तिहेतुत्वोक्तावपि भक्तेः स्वतन्त्रफलत्वं न सुप्रतिपदमिति चेत्? भ्रान्तोसि । स्वतः पुरुषार्थत्वेन कृतायास्तस्यास्तथात्वस्य दुर्वारत्वात् । अत एव प्रभुचरणैरमाणि भक्तिहंसे 'स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिरुत्तमः पुष्टिरूप' इति । एवं सति 'मत्सेवया प्रतीतं च' 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत' 'मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गुः,' 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' 'भगवान्भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्' 'एवं

धर्मैर्मनुष्याणाम्' 'भक्तिं लब्धवतः' 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या,' 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यादिवचनानि सङ्गच्छन्ते । तद्भद्भावतिरिक्तानि साधनान्याहुः **त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति** । भक्तिमार्गविरोधिदेवान्तराश्रयादेस्त्यागाद्भगवन्नामचरित्रादेः श्रवणात्कीर्तनाच्च । कर्मणोरिव श्रवणकीर्तनयोर्विरोधो नास्तीति बोधनार्थमेकवद्भावः । श्रवणकीर्तनयोरुपलक्षणत्वेन स्मरणस्याचार्यभक्तिविश्वासादीनामपि संग्रहः । न चाप्रमाणसिद्धान्यन्याश्रयत्यागश्रवणादीनीति वाच्यम् । 'यो वै स्वां देवतामतियजते, प्रस्वायै देवतायै च्यवते, न परां प्राप्नोति, पापीयान्भवति' 'यावदन्याश्रयस्तावत्', 'अनन्यचेताः सततं,' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्,' 'प्र तत्ते अद्य शिपिविष्टः नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्, तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयंतमस्य रजसः पराके' 'तस्मात्सर्वात्मना राजन्' 'तस्माद्भारत' 'तस्मादेकेन' 'तमु स्तोतारः' 'शृण्वन्गृणन्संस्मरयन्' 'शृण्वन्ति गायन्ती'त्यादिश्रुतिपुराणवाक्यसिद्धत्वात् ॥ १ ॥

भक्तिवृद्धौ साधनान्यभिधाय तत्प्रतिभुवं प्रकारमाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति** ।

बीजदार्ढ्यप्रकरस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यवच्छेदकः । बीजस्य भगवद्भावस्य दार्ढ्यजनकः प्रकारो भगवद्भजनलक्षण इत्यर्थः । यद्वा । बीजस्य पूर्वोक्तरूपस्य स इत्यर्थः । तमेवाहुः **गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिरिति** । स्वधर्मतोऽग्निहोत्रादेर्गृहे अव्यावृत्तः कर्तव्यान्तरव्यासक्तिशून्यः स्थित्वाऽचञ्चलो भूत्वा कृष्णं सदानन्दं, 'कृषिर्भूवाचक' इति वाक्यात्, श्रवणादिभिः पूजया भजेदित्यर्थः । इह स्नेहाधिक्यवैधुर्येण विधीयमानायाः सेवायाः पूजासाम्यात्पूजापदमुक्तम् । तत्राद्युक्तपूजायां शीतलशङ्खसलिलस्नानाद्यभिधानेन भक्तिमार्गविरोधात् । अथवा । ननु कृष्णभजनप्रकरणे तद्विभूतिविषयकागमाद्युक्तयज्ञोक्तेरयुक्तत्वेन प्रकृते कथं पूजापदोपादानमुपपद्यत इति चेत् । इत्थम् । सन्ति हि बहवो भावभजनप्रकाराः, तदन्तर्निविष्टा भवति भावपूर्विका पूजापि । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये 'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै'रित्यत्र गुणगाने हरिणीभावनिरूपणानन्तरं तद्भावदशः पूजारूपता निरूपिता । नहि तत्र तान्त्रिकी पूजा युज्यते जातुचित्, तस्याः पृथग्रूपत्वात् । तेनैवंभूतभावानुसारिणी सात्राभिधित्सितेति तदुपादानमविरोधि । न चैवमप्यन्ततो भक्तौ पर्यवसानेन तस्या एव वाच्यत्वात्संशयितपूजोक्तिरयुक्तेति वाच्यम् । श्रवणाद्यभक्तिनवकान्तर्गतस्वतन्त्रभावपूजायाः प्रकृते पुरस्करणीयत्वेन क्षतेरभावादिति । यद्वा । धर्मान्तराणां परधर्मत्वेन परिहार्यत्वात्स्वधर्मतो भगवद्धर्मतः सेवानुकूले गृहेऽव्यावृत्तस्त्यक्तान्यव्यासक्तिरिति यावत्, तथाभूतः सन्, कृष्णं सदानन्दं पूर्वोक्तया पूजया श्रवणादिभिर्भजेदित्यर्थः । अत्र कृष्ण-

पदेनोक्ता भजने फलरूपता । सूचितोकरणे प्रत्यवायो लिङ्गव्यत्ययेन च । न चास्मिन्पक्षे विहितवर्णाश्रमधर्मत्यागे प्रत्यवायपाषण्डित्वादिदोषप्रसङ्ग इति वाच्यम् । सेवासमयाभावे यथाधिकारं सर्वधर्मसम्पादनेनैव दोषापाकरणसम्भवात् । सेवासमये च सर्वधर्माणामनवकाशनिराकृतत्वेन तदभावेपि हानेरभावात् । 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसा'मिति वाक्यात् । कदाचिद्दोषापातेपि भगवतैव तदपगमोपपत्तेश्च । 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट' इति वाक्यात् । मर्यादामार्गीयव्यवस्थैषा । शुद्धपुष्टिमार्गमभिनिविशमानस्य तु प्रभुचरणतामरसैकतानचेतसः कृत्स्नकर्मकलापं परित्यजतोपि प्रभोरशिथिलपरिग्रहेण न कश्चिद्दोषः, यतस्तथाभूत एव स पन्थाः । 'यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता' मिति वाक्यात् ॥ २ ॥

एवं तद्वृद्धिप्रकारं व्यासक्तिविरहितभगवद्भजनलक्षणमुक्त्वा, 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृ'दितिन्यायेन काचित्कव्यावृत्तावपि चित्तं भगवति निधाय भजनप्रयत्नमत्यजन्नासीतेत्यभिप्रायेणाहुः—

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदेति । व्यावृत्तो लौकिककर्मव्यापृतोपि हरौ स्वकीयदुःखहरणस्वभावे चित्तं निधायेति शेषः, सदा निरन्तरं श्रवणादौ तन्निमित्तं यसेत्प्रयतेतेत्यर्थः । यसु प्रयत्ने तेन, यथा केनचिदुक्तं, 'परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि । तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायन'मितिवद्धृदये हरिं धृत्वावश्यकसांसारिककार्यव्यापृतेनाप्यनन्तरमनवरतं श्रवणादिप्रयत्नप्रवणान्तःकरणेन भवितव्यमित्यर्थः । यद्वा । भगवत्कार्यव्यापृतोपि तत्परिसमाप्त्योर्वरितसमये श्रवणाद्यर्थमुद्यमं विदध्यादित्यर्थः । 'यतेदिति क्वचित्पाठः । तत्र परस्मैपदमनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात्प्रत्येतव्यम् । एवं प्रयतमानस्यानुपूर्व्येण प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्याहुः **ततः प्रेमेति** । ततः श्रवणादिभ्यः प्रथमं प्रेम चित्तासङ्गवद्भवति, पश्चात्तथैव सङ्कल्पवदासक्तिर्भवति, व्यसनं च पुनर्यदा भवेदतिप्रचुरप्रभुप्रसादप्राप्यत्वात्तस्य । कीदृशानि पुनः प्रेमासक्तिव्यसनानि । स्वगोचरे स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेम । तथानेकविधमनोरथजनको भाव आसक्तिः । विषयेण विना स्थातुमशक्तिर्येन स भावो व्यसनमित्येवमाकलय । अत्र संग्रहश्लोकौ । 'स प्रेम यः संविदधाति भावः स्वतःप्रवृत्तिं विषये स्वकीये । यश्चाभिलाषान् जनयेदनेकान्भावः स आसक्तिरिति प्रसिद्धः । स्थातुमेव न शक्नोति विषयव्यतिरेकतः । येन भावेन तं भावमाहुर्व्यसनसंज्ञकम् ॥ ३ ॥

एतत्सम्पत्तौ बीजं दृढं भवतीत्याहुः **बीजमिति** ।

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

भगवत्कृपादिना यदि व्यसनसमुद्भवस्तदा यद्भगवच्छास्त्रे बीजं स्नेहाङ्कुरस्वरूपमुच्यते तद्दृढमशिथिलं भवति, अत एव विषयादिसंसर्गेण नश्यत्यपि न । व्यसनभावस्य बीजभावदार्ढ्यपरमावधिरूपत्वादिति भावः । यद्वा । बीजं यत्प्रभुपरिग्रहात्मकं तद्यदि व्यसनं समुत्पद्यते, तदा भक्तिशास्त्रे दृढं केनापि शिथिलीकर्तुमशक्यमुच्यते । अत एव कालासत्सङ्गेत्यादिनापि न विनश्यतीत्यर्थः । नहि भगवान्निजाङ्गीकृतान्कदाचिदपि विहातुमुत्सहते । तदङ्गीकारस्य नित्यत्वात् । एवमुत्तरोत्तरबलवत्तराणामेतेषामाद्ययोः कार्यमाहुः स्नेहेति । स्नेहाद्भगवद्विषयकप्रेम्णः प्रभुसेवाप्रतिकूले गृहे रागस्य विनाशो भवति । भगवद्रागस्य द्रागेव गेहानुरागनाशोपायत्वात् । 'तावद्रागादयः स्तेना' इति वाक्यात् । आसक्त्या चोक्तरूपया गृहेऽरुचिरासक्त्यभाव उपजायते । भगवदासक्तेस्तदतिरिक्तासक्तिनिराकरणशीलत्वात् । 'कृष्णांघ्रिपद्ममधुलिड्न पुनर्विसृष्टमायागुणेषु रमते वृजिनावहेष्वि'तिवाक्यात् । न च प्रेमासक्तिमतामपि गेहस्नेहादिसद्भावदर्शनादसङ्गतमिदमिति वाच्यम् । तादृशां भगवद्विषयकस्नेहसङ्गोपनार्थमेव सांसारिकतत्प्रकाशनादनेवंभावे च भगवत्यपि तदभावादेवेत्युभयथापि दोषाभावात् । लोकसंग्रहार्थमपि भक्तानामसंख्यव्यापारदर्शनात् । भजनौपयिकभवनाद्यनुरागस्य स्वधर्मपर्यवसायित्वेनौचित्यावर्जितत्वाच्च ।

एवं सति गृहाद्यनुरागिणामेवात्र बाधकत्वास्वधर्मत्वे स्फुरत इत्याहुः **गृहेति** ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

भगवत्सम्बन्धिप्रेमासक्त्योर्गृहेस्थानां विवेकवैकल्येन गृहेनुरागाधिक्यात्तत्रैव तिष्ठतां बाधकत्वं, तत्र स्नेहाभावोत्पादकतया कलत्रपुत्रादिपोषणसामर्थ्याभावलक्षणदोषोद्भावनात्प्रवृत्तिमार्गोतिमात्रनिष्ठावत्तयानात्मधर्मत्वं च, भगवति वानात्मत्वं भासत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु, 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'न कर्हिचित् मत्परा शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति' 'तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ', 'तस्मिन्सन्तुष्टे किमप्राप्यं किमलभ्यं भगवती'त्यादिवाक्येभ्यो भगवानेव निजभक्तनिखिलकार्यनिर्वाहाय जागरूक इति वास्तवसर्वभावेन भजनीय इति वस्तुगतिमविदुषाममीषामेवेयं कुमनीषेति । अत एव श्रीमदाचार्यै**र्भासत** इत्यभाषि । अथवा । भगवदासक्तियुक्तानामतादृशशास्त्रादिषु बाधकत्वप्रतिसन्धानं भवतीत्याहुः **गृहस्थानामि**त्यादि । अत्र गृहस्थपदेन भार्यापुत्रादयस्तात्स्थ्याद्गृह्यन्ते । तथा च सति तेषां विजातीयभावतया तद्भावस्य स्वभावप्रतिद्वंद्वित्वेन स्वात्म-

भावस्याभाव्येन च निजभावभङ्गभीरूणां तेषु बाधकत्वं भासतेऽनात्मत्वं च । तथाभूतानां भगवत्येव स्फुरत्स्वात्मभावतया तदीयेष्वात्मीयताविर्भावात् । अत एव श्रीमदस्मदाचार्यैरुक्तं 'पुत्रे कृष्णप्रिये रति'रिति । एतेन 'न वारे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ती'त्यादि श्रुतेरात्मसम्बन्धितया पुत्रादीनां प्रियत्वेन बाधकत्वमसम्भवीत्याशङ्का व्युदस्ता । एवं प्रेमासक्त्योः कार्यमुक्त्वा व्यसनस्य तदाहुः यदेति । यदा परमदुरापमनुपममुक्तभावात्मकं व्यसनं कृष्णे सदानन्दे स्वलीलासहिते स्यात्, तदैव कृतार्थः पर्याप्तार्थः स्यात्, कर्तव्यान्तरपरिशेषाभावात् । अत एव व्रजस्थितानां तथाभावः श्रूयते श्रीभागवते, 'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः,' 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्' 'क्षणं युगशतमिवे'त्यादिना । एवकारः प्रेमासक्तिमतोर्व्यवच्छिनत्ति । हिशब्देनात्र युक्तार्थतोक्ता, तद्भावविघातकसद्भावात् । तदेतदाहुः । तादृशस्यापि प्रेमादिमतोपि सततमविच्छेदेन सत्सङ्गाद्यभावेन गेहस्थानं भावस्य विनाशकं भवति । न च व्यसनवतोपीदृशबाधकास्तित्वं शक्यसत्सङ्गाद्यसचिवस्य तस्य तादृशत्वात् । तद्भावस्यैव स्वतन्त्रकार्यक्षमत्वेन सत्सङ्गादिभावाभावायत्तैर्वृद्धिह्रासैस्तद्व्यतिशङ्क्यम् । रिक्तभावानामेव साधकबाधकादिसम्बन्धितया प्रकृते बाधशङ्कानवतारात् ।

गृहादेर्भावान्तरायरूपत्वं विदित्वा तदपहाय फलाय प्रयतेत यस्तस्य तदाहुः ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावर्तकः । यः पुमान्गृहादिषु भगवद्भजनप्रतिबन्धं विबुध्य तत्त्यागं कृत्वा भगवल्लीलाश्रवणचिन्तनादिनिमित्तं यतेत् यत्नं कुर्यात्, कीदृशः ? तदर्थार्थैकमानसः । तस्य भगवतो योर्थः श्रवणादिरूपस्तदर्थं एकं मानसं यस्य तादृश इत्यर्थः । यद्वा । भगवतोर्थो लीला, तदर्थं तन्निमित्तं तदर्थेषु तत्सम्बन्धिपदार्थेषु वा तथेत्यर्थः । अथवा । स चासावर्थश्चेति कर्मधारये तदर्थो भगवान् तदर्थं तथेत्यर्थः । स एवार्थः शास्त्रस्कन्धादिषु यत्र । तादृशं श्रीभागवतं 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे । एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यत' इति श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपवचनात् । तदर्थं वा तथेति वार्थः । स एवार्थो धनं येषां ते । तदर्था भगवद्भक्तास्तेषामर्थेषु कार्येषु वा तथेत्यर्थः । एतादृशः सन् भक्तिं सुदृढां विषयाद्यनभिभाव्याम्, 'प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयत' इति वाक्यात्, सर्वतो ज्ञानादिभ्योप्यधिकामुत्कृष्टाम् । न चाधिक्ये मानाभावः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः,' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्चे'त्यादिवाक्यशतसिद्धत्वात् । विस्तरस्तु श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैरन्यत्र कृत इति नेह तन्यते । परामभिव्यक्तापरिच्छिन्नानन्दरसस्वरूपां लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ६½ ॥

तर्हि निरन्तरायेऽस्मिन्नुपाये सति किमित्युपायान्तरमुपादेयमित्यत आहुः **त्याग** इति।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरं विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

न हि त्यागो निष्प्रत्यूहं फलाय कल्पते, त्यागे यतो बाधकानि दुःसंसर्गदुष्टान्नभक्षणादीनि सद्बुद्धिप्रतिक्षेपकारीणि भूयांसि सन्ति । न हि भगवत्पराङ्मुखानामनेकदोषदन्तुरितस्वान्तानां सङ्गस्तूर्णं भावभङ्गं न विधत्ते । न वा तथाभूतानामन्नादिकं भक्षयतो भगवत्यभीक्ष्णमविक्षिप्तं मनो भवति । अत एवावैष्णवादीनामन्नं न परिग्राह्यम् । तदुक्तं पद्मपुराणे 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च -। अनर्पितं तथा विष्णोः श्वमांससदृशं भवे'दिति । ननु बाधकानां बहुत्वे द्वावेव कथं कथितौ । दुष्टसंसर्गान्नदोषयोः प्रबलत्वादिति बुध्यस्व । तेन यदि भगवद्भजनं गृहादिषु निर्बाधं सम्पद्यते, तदा न परित्यागः श्रेयान् । तच्चेत्तत्र भार्याद्यभिद्वेषादिना सम्यङ्न निर्वहति, तदा पूर्वोक्तप्रणालिकया त्याग एव कर्तव्य इति विवेकः । अत एव श्रीमदाचार्यैस्तत्त्वदीपनिबन्धेऽभ्यधायि 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति । द्वितीयस्कन्धविवरणे च 'दाम्पत्यं भगवद्भजनार्थमपेक्षित'मिति । एवं त्यागे दुःसङ्गादेर्विघातकत्वं निरूप्य तद्दोषनिराकरिष्णुः सतां सङ्गः क्वचिद्भगवत्स्थाने सम्पादनीय इत्याहुः **अत** इति । यतस्त्यागे बाधकानां बहुत्वमतःकारणात्क्वचिद्धरेः सर्वदुःखहर्तुः स्थाने श्रीगोकुलश्रीगोवर्धनादौ तदीयैस्तत्सम्बन्धिभिस्तत्परैः, स एव परः सर्वापेक्षयोत्कृष्टो येषां तादृशैः, परमकाष्ठापन्नवस्तुनिष्ठैः सह स्थेयमित्यर्थः । न च तत्राप्यसत्सङ्गादिसम्भवादुक्तदोषानिवृत्तिरिति वाच्यम् । सर्वसमयसत्सङ्गवत्सु दुःसङ्गादिदोषाणामनवकाशनिवारितत्वात् । न हि प्रतिदिनं सत्सङ्गरसास्वादिनः क्वचिदन्यत्र चित्तप्रसादमासादयन्ति । अत एव सत्सङ्गोत्कर्षः श्रीभागवते गीयते । 'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष' इति । ननु यत्र कचित्सत्सङ्गेन कार्यसिद्धेः सद्भिः सहावस्थानं हरिस्थान एव कार्यमिति निर्बन्धो बकबन्धवन्निरर्थक इति चेत् । मैवम् । तत्र बाहुल्येन तेषां सङ्गतेः सम्यक्सम्भवेन तदनुवृत्तेरावश्यकत्वात् । अन्यत्र तेषां प्रायशोनुरागविरहेणानवस्थानात् । बहिर्मुखजनकृतोपद्रवशङ्कया स्थातुमशक्यत्वाच्च । अत एवोक्तं पञ्चमस्कन्धे 'न यत्र वैकुण्ठकथा सुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः । न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोपि न याति सेव्यता'मिति । एवं सति तेषां सन्निधौ स्थितिः कथं कर्तव्येत्याकांक्षायामाहुः **अदूर**मिति । यथा भगवदीयानां चित्तं न दुष्यत्युद्वेगादिना, न विकृतिमाप्नोति, तथाऽदूरं निकटं यथा स्यात्तथा, विप्रकर्षे दूरे वा स्थातव्यमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । सन्तो हि नितान्तमेकान्ते भगवत्कथां मिथः कुर्वन्तस्तद्रसरभसविवशा भवन्ति,ताननुसरन्यदि कश्चित्स्वलाभं निश्चित्य तेषामासत्तिमालम्बते, ते चेदतिगूढरसं तदग्रतः प्रकाशयितुमशक्यमाकलयन्तः, स्वयं ततो विरमन्ति चित्तोद्वेगवन्तः, तदा तस्य दूरस्थितिरेवानुसरणे श्रेयसी, अन्यथा मनीषितानिष्पत्तेः । अथ दयार्द्रहृदयतयातिनिकटागमने नियोगं विदधते, तर्हि तत्सामीप्यमेव समीचीनम्, अनुसरणानुकूलतया समीहितसिद्धिहेतुत्वादिति । यद्वा । स्वस्य चित्तं यथा दुष्टं न भवति तथा सन्निकर्षेण विप्रकर्षेण वा स्थेयमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

एवं सत्सङ्गाद्यपगताशेषदोषस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः **सेवाया**मिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सत्सङ्गादिकमनुतिष्ठतः श्रीकृष्णसेवायां स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वपरिस्फूर्त्या दृढा निश्चलासक्तिर्भवेत्, कथायां वा, तस्या अपि सेवासमत्वात्, तस्य यावज्जीवं प्राणस्थितिपर्यन्तं नाशः फलाभावः क्वापि न स्यादिति मम मतिः । अतो नेह सन्देहः कर्तव्य इति भावः । यद्वा । मम मतिरेवं भगवान्परमकृपालुः कथं वा तस्य दयेतेति न वेदितुं शक्यमिति भावः । ननु सेवायाः कथायाश्च कथं साम्यम् । इत्थम् । तथाहि । सेवा नाम चित्तस्य तदेकप्रवणत्वम् । 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति लक्षणाभिधानात् । तत्सम्पादिकायाः कृतेरपि तथात्वम्, अन्यथा तस्याः परत्वानुपपत्तेः । अत एव 'मानसी सा परा मते'त्यभाणि । तेन यथैतस्या भगवद्भावतद्भक्तसङ्गादिसाधकत्वं नान्तरीयकानन्तकार्यसाधकत्वं च, तथा कथाया अपीति साम्यं दुरपवादम् । अत एवैतादृशाभिप्रायेण 'कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि मिलन्ति, प्रेमापि भवति, आनुषङ्गिकं चान्यद्बह्वेव भवती'त्युक्तमाचार्यैः ॥ ९ ॥

ननु क्वचित्काननादावेकान्ते वासं विधाय भगवन्नामलीलादिकमेव चिन्तनीयमेकाकिना, किं भगवद्भक्तसङ्गेनापीति चेत्तत्राहुः ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः शङ्काव्युदासकः । यदुक्तमेकान्तेन नामचिन्तनमेव कार्यं, न सत्सङ्ग इति तत्सत्यम्, परन्तु यदि बाधस्य भोगचित्तोद्वेगलक्षणस्य सम्भावना न भवेत्, सा चेत्स्यात्, तदैकान्ते वासो नेष्यते, चित्तचाञ्चल्यादिना नामचिन्तनाद्यनिर्वाहात् । अतः सत्सङ्ग एव कर्तव्य इति भावः । ननु चित्तविक्षेपादिरान्तरो बाधः सत्सङ्गादिना निवर्तताम्, बाह्यं चौरव्याघ्रादिमयं तु दुःपरिहरमिति चेत्तत्राहुः **हरि**रिति । तुशब्दः प्रकारभेदावेदकः । हरिर्भक्तदुःखहर्ता सर्वतो बाह्यादान्तराच्च बाधकाद्रक्षां करिष्यति । अस्मिन्नर्थे संशयो नास्तीत्यर्थः । न हि भगवान्भक्तदुःखं क्षणमात्रमपीक्षितुं क्षमते ? निरुपम-

परमानुकम्पापूर्णत्वात् । अत एव हरिपदमुपात्तम् । भक्तदुःखहर्तृत्वस्य तदसाधारणधर्मत्वात् । तदाहुराचार्याः 'यथा गन्धः पृथिव्याः, एवं भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्व'मिति । यद्वा । सर्वतः सुदर्शनादिना रक्षां हरिः करिष्यति, नात्र संशय इत्यर्थः । 'अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तं, रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासितः । सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्येभ्यः ॥ १० ॥

एवं प्रस्तुतमशेषं शास्त्रमुपवर्ण्यैतदर्थपरिज्ञानपूर्वकपाठफलोपन्यासपुरःसरमुपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्भक्तिप्रकारप्रतिपादनात् निरूपितमपि **गूढतत्त्वं** गुप्तस्वरूपम्, भगवदनुगृहीतैरेवैतदभिप्रायस्यावगन्तुं शक्यत्वात् । एतद्यः पुमानुदितभाग्यो भगवदीयानुग्रहेण विचारेण वा सम्यगर्थावगमपूर्वकमधीयीत पठेत्तस्य भगवति दृढा स्थिरा रतिः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाङ्गजन्मा गोपेश्वराभिधः । विवृतिं भक्तिवर्धिन्याः कृतिनिर्वृतये व्यधात् ॥
यद्यप्यतिहृद्यास्याः पितृचरणैर्निर्मिता विवृतिः । तदुपरिकरणेऽन्यस्या आघोषो भूयतेनल्पम् ॥
तेषामतिकरुणानां तथापि बालेन संरचिता । निजपाठितगुणनेव प्रीत्यै नित्यं भवित्रीयम् ॥
इमां श्रीवल्लभाचार्यपदपङ्कजकिङ्कराः । पश्यन्तः सन्ततं सन्तः सन्तुष्यन्तु मुहुर्मुहुः ॥

इति श्रीमद्गोकुलाधीशपदपङ्केरुहनिरतिशयरतिवर्त्मप्रवर्तकोद्वेलद्भगवल्लीलामहारसाब्धिसमुच्छलद्भावकल्लोलसंवलितसकलस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यवदनचन्द्रचञ्चच्चारुतमवचनमरीचिनिचयप्रोदञ्चन्निःसीमानन्दनिकुरुम्बकरम्बितीकृतनिजभृत्यनिकरचेतश्चकोरकानवधिकानुकम्पानिधानश्रीविठ्ठलाभिधानप्रभुचरणपयोरुहरेणुकणमात्रसर्वस्वश्रीकल्याणरायतनुजगोपेश्वरविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमुपागमत् ।

श्रीविठ्ठलपदपङ्कजकिङ्करगोपेशसुरचिता या । तां श्रितानां तोषाय रोषाय द्वेषिणामस्तु ॥
अनया कृपया तेषां कृतयामितया मया । सदार्या वल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥१॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेता ।

प्रणम्य गोकुलाधीशभक्तिमार्गाब्जभास्वतः ।
आचार्यांस्तद्दयादृष्ट्या व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवता एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये 'न साधयति मां योग' इत्यत्रोपलक्षणविधया सर्वेषां योगादीनामुपायानां स्वासाधकत्वमुक्त्वोर्जितायाः भक्तेः स्वसाधकत्वमुक्तम्, तत्र किं नामोर्जितत्वमित्याकांक्षायां प्रवृद्धत्वमेवोर्जितत्वमित्यभिसंधाय भक्तिवृद्ध्युपायं स्वीयानामर्थे वक्तुं प्रतिजानते **यथा भक्तिरित्यादि** ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

तत्र भक्तिशब्दो माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहे रूढः । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति पञ्चरात्रस्मृतेः, 'सा परानुरक्तिरीश्वर'इति शांडिल्यसूत्रोक्ताद्भक्तिलक्षणात्, 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति भावलक्षणस्मृतेश्च । स्नेहश्च ज्ञानादिभ्योतिरिक्तो मनोधर्मविशेषः । प्रीणाम्यनुरज्यामि स्निह्यामीत्यनुव्यवसायेन मानसप्रत्यक्षगम्य इति शांडिल्यसूत्रभाष्ये स्वप्नेश्वराचार्यैर्व्यवस्थापनात् । नचैवं सति स्नेहमात्रमेव भक्तिरिति शंक्यम् । 'गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । संबन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो' इति सप्तमस्कन्धीयनारदवाक्ये भक्तिस्नेहयोर्निर्देशभेदस्य विरोधापत्तेः । उक्तपञ्चरात्रस्मृत्यादिषूक्तानां तद्विशेषणानां वैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्मात्तावद्विशेषणविशिष्टस्नेह एव रूढो, न केवल इति निश्चयः । योगविचारे तु 'भज सेवाया'मिति धातोर्भावे क्तिन्प्रत्यये कृते भक्तिरिति भवति । भावश्च क्रिया[2]सामान्यम् । प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः, तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति वैयाकरणनियमात् धात्वर्थव्यंग्या या प्रधानभूता क्रिया तत्र पर्यवस्यति । प्रधानभूता च क्रिया मानस्येव । 'अन्यत्रमना अभूवन्नाश्रृण्वम्, अन्यत्रमना अभूवन्नापश्यमि'तिवाजसनेयश्रुतौ मनसः प्राधान्यश्रावणेन तत्क्रियाया एव प्राधान्यस्यौचित्यात् । तथाच सेवाभिव्यंग्या प्रेमरूपा मानसी सेवा भक्तिरिति तत्र योगरूढः सिध्यति ।

१ तृतीयस्कन्धे च 'सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः । हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते' इति । २ साम्यमिति पाठः ।

तथाच श्रवणादिनवकेपि पारिभाषिकः । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणे'ति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात् । अन्ये तूपासनायामपि भक्तिशब्दं प्रयुञ्जते । नैयायिकास्तु आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिरित्याहुः । तन्मते बुद्धिविशेष एव भक्तिः । वस्तुतस्तु तत्र सारूप्यप्रयुक्ता गौणी । पूर्ववद्रूढ्यादिज्ञापकप्रमाणाभावात्[1] । तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशाध्याये श्रीकपिलदेवैस्तु 'काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरे'ति देवहूतिप्रश्ने 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या, अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी, जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथे'ति स्वरूपकार्यलक्षणाभ्यां बोधिता । तत्र एकमनसः पुंस इन्द्रियाणां स्वाभाविकी अनिमित्ता सत्त्वोपाधौ भगवति वृत्तिर्निष्ठेति स्वरूपलक्षणम् । कोशजरणं च कार्यलक्षणमिति सिध्यति । तत्सुबोधिन्यां सत्त्वपदं सांख्यानुसारात् 'वस्तुतस्तु मूलरूप' इति व्याख्यातत्वात्स्पष्टम् । अष्टाविंशाध्याये[2] तु 'भक्तियोगो बहुविध' इति पुरुषस्वभावभेदकृतमार्गभेदेन भक्तियोगस्य बहुविधत्वं प्रतिज्ञाय, त्रिविधं सात्त्विकराजसतामसभेदेन तदेव नवधा त्रिभिः श्लोकैरभिधाय, ततो 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथागंगांभसोम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याप्युदाहृत'मित्यनेन भगवद्गुणश्रवणमात्रात् भगवत्यविच्छिन्नां मनोगतिं यो जनयति सः भावैः[3] निर्गुणभक्तियोगाख्य इत्येवं लक्षितः । ततः 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इति सार्धाभ्यां कालकर्माव्यवहिता पुरुषोत्तमविषयिणी स्वतः पुरुषार्थरूपा या सेवा सा आत्यन्तिकभक्तिरित्येवंलक्षिता । अत्र च भक्तिशब्दः प्रेमसेवायां योगरूढो गृहीत इति 'सालोक्ये'तिवाक्यादवसीयते । अयमेव चैकादशस्कन्धे द्वादशाध्याये 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे'त्यादिभिः श्लोकैर्भगवता परामृष्टो ज्ञेयः । एवं भक्तिशब्दस्यानेकार्थत्वे सति प्रकृते का वा विवक्षितेति चेत् ? उच्यते । आचार्याणां भगवदाज्ञया एकादशस्कन्धे भगवदभिसंहितो यः सुगोप्यः सत्सङ्गलभ्यो भाव उक्तः, स एवाभिसंहितः । सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति कथनात्, तद्विवरणे प्रभुचरणैरपि 'ता नाविद'न्निति द्वादशाध्यायवाक्यस्य लिखनात्, प्रकृतग्रन्थेपि तत्रत्यचतुर्दशाध्यायवाक्योक्तसत्सङ्गश्रवणकीर्तनात्मकसाधनानामभिधानाच्च । न च चतुर्दशाध्यायोक्तसाधनानां द्वादशाध्यायोक्तभावं प्रति साधनत्वं कथमिति शंक्यम्[4] । चतुर्दशाध्याये तस्यैव भक्तिशब्देन परामर्शात् । द्वादशाध्याये 'न रोधयति मां योग' इत्याद्युक्तस्य योगादीनामसाधकस्यात्रापि 'न साधयति मां योग' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानेन तथा निश्चयात् । अतस्तस्य या पूर्वावस्था 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्वि'ति पञ्चरात्रवाक्ये उक्ता, सात्र विवक्षिता, तस्याः पूर्वोक्तरूपोर्जितत्वार्थमेव प्रयतनात् । तथाच सा यथा येन प्रकारेण प्रवृद्धा ऊर्जिता स्यात् तथा तेन प्रकारेण उपायो बुद्धिस्थो निरूप्यत इत्यर्थः ।

१ प्रामाण्याभावादिति पाठः । २ एकोनविंशाध्याय इति पाठः, अष्टाधिको विंशो यत्रैकोनविंशे सोष्टाविंशः, तादृशे ध्याये । ३ तेन मनसो गतिर्येन भावेनेति विग्रहः । एवं 'भक्तिरस भजनमित्यस्यां मनःकल्पनशब्देऽपि । ४ पुष्टित्वं साधनेष्वपि, अतो न केवलानुग्रहसाध्यत्वविरोधः ।

एवं प्रतिज्ञाय अधिकारिभेदेन प्रकारद्वयं वदिष्यन्तो मुख्याधिकारिणो भक्तिप्रवृद्धेरधिकारबलादेव सिद्धत्वात्तदनुक्त्वा प्रथमं मध्यमाधिकारिण उपायमाहुः बीजभाव इत्यर्धेन ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

बीजरूपो भावः भगवदनुग्रहजन्यः प्रेमा[1] । तस्मिन्वक्ष्यमाणरीतिकव्यसनरूपतया दृढे सति । तुः साधनान्तराशङ्कानिरासे । तदा त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्स्यात् । विरहानुभवार्थं संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकः सवासनगृहपरित्यागस्तं कृत्वा तदुत्तरं यच्छ्रवणसहितं कीर्तनं तस्मात्स्यादित्यर्थः । अत्र श्रवणानन्तरं कीर्तनस्य कथनाच्छ्रुतानां स्वरूपगुणलीलानां भावनं कीर्तनात्पूर्वमर्थबलात्प्राप्यते । एतदभिप्रायेणैव संन्यासनिर्णये 'भावो भावनया सिद्धः साधन'मित्युक्तम् । निरोधलक्षणे चाशंसाः प्रथमतो निरूपिताः । तथाचैतैश्चतुर्भिर्भक्तिरूर्जितलक्षणवती प्रवृद्धा भवतीत्यर्थः । एतदेव निरोधलक्षणग्रन्थे 'महतां कृपया याव'दित्यारभ्य 'तदध्यासोपि सिध्यती'त्यन्तेन फलानुभवपर्यन्तं प्रपञ्चितं ज्ञेयम् । तन्मया तत्रैव विवृतमिति नेहोच्यते ।

प्राञ्चस्तु । पुष्टिमार्गाचार्यानुग्रहपूर्वकभगवन्निवेदनानन्तरभाविनमंगीकारं बीजभावत्वेन केचिदाहुः । अन्ये तु भक्त्यसाधारणकारणमहदनुग्रहसत्ताम् । इतरे चाल्पं स्नेहम् । तथा त्यागपदेन भगवदतिरिक्तत्यागं केचिदाहुः । अन्ये तु एतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागम् । इतरे तु भक्तिमार्गविरोधिनोन्यभजनादेस्त्यागम् । तेन तन्मते गृहस्थित्यविरोधी त्याग आयाति । मन्मते तु गृहस्थितिविरोधीतिभेदो बोध्यः ॥ १ ॥

अतःपरं जघन्याधिकार्यर्थं प्रकारं वदिष्यन्तः पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजेत्यादि ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजं पूर्वोक्तम् । तद्दार्ढ्यप्रकारस्तु निरूप्यत इति शेषः । गृहे गृहस्थाश्रमे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतः पूर्वसिद्धादव्यावृत्तः अपरावृत्तः । 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः

१ साधारणसत्तारूपप्रेमव्यावर्तकं विशेषणम् । 'नासतो विद्यते भाव' इति गीतायां तदुक्तम् । प्रेमापि सत्तारूपं विषयस्नेहव्यावृत्तं । विशेषणादित्युक्तम् । २ एकादशस्यैकादशेध्यायेसिध्यति । ३ व्यसनरूपप्रेमपरिणामान्तिमेन वृक्षादिमस्य संपर्कं कारिकोक्ता भक्तिवृद्धिः स्यादिति नोपक्रमविरोधः ।

कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः, स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्तत' इति छान्दोग्यस्थे गृहिणोपसंहारसूत्रविषयवाक्ये तथा सिद्धत्वात्। एकादशस्कन्धे उद्धवप्रश्ने भगवताप्याचारलक्षणस्य वर्णाश्रमधर्मस्य भजनाङ्गत्वेनोक्तत्वाच्च। तं कुर्वन् कृष्णं पुरुषोत्तमं भजेत्। तत्र साधनं पूजाश्रवणादिकं च। तदाहुः **पूजया श्रवणादिभिरि**ति। अत्र पूजा यथालब्धोपचारैः स्नानालंकरणादिरूपं स्वरूपसेवनम्, अर्चनापरपर्यायम्। तत्रैव पूजनप्रयोगदर्शनात्। श्रवणादि तु नवविधं प्रसिद्धमेव। तैर्भजेत् सेवेत। प्राथमिकभगवदनुग्रहेण जातामनुद्भूतां भक्तिमनया साधनमर्यादयाभिव्यञ्जयन् वर्धयेदित्यर्थः। यद्यपि नवस्वर्चनमपि प्रविशति, तथापि तस्यावश्यकत्वाय विशेषफलसाधकत्वाय च प्रथमं पृथङ्निर्देशः[१]। नचोक्तश्रुतिभगवद्वाक्यबोधितप्रकारकस्य वर्णाश्रमधर्मस्येदानीमभावाद्भजनस्य व्यङ्गत्वं शङ्क्यम्। सप्तमस्कन्धे 'स्वधर्माचरणं शक्त्ये'ति नारदवाक्येन, निबन्ध आचार्यैरपि 'स्वधर्माचरणं शक्त्ये'त्यंगीकारेण च यथाशक्ति तत्करणेपि भक्तेर्व्यङ्गतापरिहारस्य निःप्रत्यूहत्वात्। एवमेकः प्रकार उक्तः ॥ २ ॥

अतःपरं वैधुर्यादिना तदशक्तौ प्रकारान्तरमाहुः **व्यावृत्तोपी**त्यादि।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।

वैधुर्यादिना व्यावृत्तः स्वाशक्त्या वर्णाश्रमधर्मान्निवृत्तोपि हरौ भगवत्यघहर्तरि चित्तं स्थापयित्वा श्रवणादौ श्रवणाद्यर्थम्, तादर्थ्ये सप्तमी, यतेत् यत्नं कुर्यात्। अनुदात्तेल्लक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदम्। न तु परार्थत्वात्। स्वतः पुरुषार्थत्वेनैव तत्करणस्य सिद्धान्तत्वात्। **सदे**ति। निरन्तरमभीक्ष्णं वा। एवञ्च जघन्याधिकारिणोर्मध्ये यस्य सेवकसाधनसंपत्तिः तस्य पूजा श्रवणादिकं च बीजव्यक्तिसाधनम्। यस्य तु न पूजासाधनसंपत्तिः, तस्य तु भगवच्चित्ततापूर्वकं श्रवणादिकमेव साधनम्[२]। एतदेवाभिसन्धाय निरोधलक्षणग्रन्थे 'संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै' इत्यारभ्य आन्तं प्रपञ्चितं ज्ञेयम्। तन्मया तद्विवरणे व्युत्पादितमिति नेह पुनरुच्यते।

प्राञ्चस्तु अव्यावृत्तशब्दस्य व्यासङ्गरहित इत्यर्थमाहुः, व्यावृत्तशब्दस्य च व्यासक्त इति। सोत्र 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्यैव सिध्यतीत्युपेक्षितः। व्यासक्त इति तु 'हरौ चित्त'मित्यादिनैव निवार्यत इत्युपेक्षितः। लक्षणाप्रसंगाच्चेति[३] बोध्यम् ॥ २½ ॥

१ भाष्योक्तत्वादिति भावः। २ 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धये'ति श्रुत्युक्तं विशेषफलम्। कस्माद्विशेष इति चेत् ? 'तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती'ति श्रुत्युक्तात् फलात्। ३ विपरीतलक्षणाप्रसंगात्।

एवं बीजदार्ढ्यसाधनमुपदिश्य बीजाभिव्यक्तिप्रकारमाहुः **ततः प्रेमे**त्यादि।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति।

तत उक्तविध(मध्यम)जघन्याभ्यां कृतादुक्तविधसाधनात्प्रेम हरौ भवेत्। पूर्वोक्तो हरिशब्दोत्राप्यनुषज्यते। एवमग्रेपि बोध्यम्। प्रेम च भावकन्दलरूपं बोध्यम्। **तथासक्तिः** तदुत्तरं तादृशेन तत्करणेन तदुत्कर्षावस्था रागादिरूपा भवेत्।

कल्याणरायास्तु स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते, स्वविषये विविधमनोरथजनको भाव आसक्तिरिति तयोर्लक्षणमप्याहुः। तदपि युक्तम्। तथानुभवस्य सर्वजनीनत्वादिति।

च पुनः यदा व्यसनं तद्विना स्थातुमशक्तिरित्याकारकं यदा भवेत्, तच्छास्त्रे भक्तिपरमकारणबोधके 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिरूपे भगवता साधनपर्याप्तिकथनात्[१] दृढं बीजमित्यस्माभिरुच्यते। दृढत्वे गमकमाहुः **यन्नापि नश्यती**ति। नश अदर्शने। यद् दुःसंगादिना परिभूतं सद्दर्शनागोचरतां न प्राप्नोति, किन्तु सर्वदैव दृश्यते, स्वयं चानुभूयते। तथाचैतदेव दार्ढ्यलक्षणम्। अदृढस्यैव कादाचित्कत्वादिति। अत्र पूजाश्रवणादिकं दशमस्कन्धोक्तरीतिकमेव ग्राह्यमित्यभिप्रेतम्। नामावलीसमाप्तौ 'बाललीलानामपाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते। आसक्तिः प्रौढलीलाया नामपाठाद्भविष्यति। व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाभिधानतः। तस्मान्नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीप्सुभिः सदे'ति[२] कथनात्। एवं कीर्तनस्य निरोधलीलाविषयत्वे निश्चिते श्रवणस्यापि तद्विषयत्वमेव निश्चितं भवति। तथा श्रवणमपि यत्र यन्नामसिद्धं, यथा च नामावल्यां यत्रोक्तं, तदनुसंधानपूर्वकमेव संपादनीयमिति च। तथा पूजाया अपि। तेन नवानामप्येकरूपत्वं निश्चितं भवतीति मम प्रतिभाति। न च 'यस्याः संकीर्तनाद्विष्णुरात्मानं संप्रयच्छती'त्युपक्रमोक्तफलविरोधः शंकनीयः। तस्यावर्तनसिद्धात्कीर्तनात्सिद्धेः। उपसंहारे निरन्तरे जाप्योक्त्या तथावसायादिति[३]।

एवं दृढबीजलक्षणमुक्त्वा तत्सिद्ध्यर्थं तदुत्पादकानां प्रेमाद्यवस्थानां सिद्धिज्ञापकं लक्षणं क्रमेणाहुः **स्नेहादि**त्यादि।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

१ 'बीजं तदुच्यत' इत्युत्तरग्रन्थात्। 'सेवायां वा कथायां वे'त्यत्र सेवाश्रवणादिसरणिरूपा भक्तिहंसोक्ता। २ 'प्रातराशौ विचेरतु'रित्यारभ्य 'नीवीं वसित्वे'त्यन्तम्। ३ ततः प्रेमेत्यत्रोक्तसाधनेषु नामात्मकसाधनप्रवेशात् तत इत्यस्य नामात्मकसाधनमाहुः।

अत्रैतद्बोध्यम् । भक्तिः स्नेहविशेष इति पूर्वं व्युत्पादितम् । तत्कारणं तु भगवद्धर्मविशेष एवानुग्रहाख्य इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्तिः क्वचित्सहसैवाभिव्यज्यते, क्वचिच्च सत्सङ्गश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टावंगीकृतास्तेषु तु सहसैवाभिव्यज्यते, यथा गोकुलस्थेषु । ये पुनर्मिश्रपुष्टावंगीकृतास्तेषु तु साधनद्वाराभिव्यज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्वं हि सहज'मिति लक्षणं तु न व्यभिचरति । एवं सति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्तिः, तेषु साऽनुद्भूता भावरूपेण मनसि तिष्ठति, ततः पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण क्रमादुद्भूता भवति । अभियुक्तास्तु भावस्यावस्थासप्तकमाचक्षते । 'भावः प्रेम प्रणयः स्नेहो रागानुरागव्यसनानी'ति । अत्र च पूर्वं बीजाभिव्यक्तिप्रकारकथने'ततः प्रेमे'ति प्रेमशब्देन पूर्वावस्थां निर्दिश्यात्र तदभिज्ञापककथने यत्स्नेहशब्दः प्रयुक्तः, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोवस्था यदा भवन्ति, तदा भगवच्छ्रवणाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तत्प्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणम् ।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयरूपासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणत्रयमाहुः **आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरित्यादि** । रुचिराकांक्षा गृहारुचिर्गृहाकांक्षाऽभावः उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणम् । लक्षणान्तरमाहुः **गृहस्थाना-मित्यादि** । गृहस्थानां चेतनाचेतनानां भगवति समर्पणानन्तरं भगवदीयत्वानुसन्धानेपि तेष्वंशतः स्वीयत्वाभिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तमादाय तेषां पूजाश्रवणादिसाधनबाधकत्वं स्वस्य भासते, सर्वेषां चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यविनियोगसंभवात्तच्चिन्ताया अकरणेपि तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायत्त्यापि तच्चिन्तादिसंभवेन 'गृहेष्वतिथिवत् वस'न्निति न्यायस्य तदानीमसंभवादपि तेषां श्रवणादिबाधकत्वं स्वस्य भासते । किञ्च, अन्यविनियोगादीनां स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषां तत्प्राधान्ये जीवस्यानुस्मृतिः सतीत्युक्तस्यात्मधर्मस्य गौणत्वान्मूर्खे पाषाणकल्पत्ववदनात्मत्वं च तेषु भासते । तथाचैतदुभयभानं गृहस्थितिं शिथिलीकुर्वदासक्तिदार्ढ्यं संपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविधं भानमासक्तिप्राचुर्यलक्षणमित्यर्थः । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयभवने आसक्तिपर्याप्तिर्बोध्या ।

प्राञ्चस्तु केचिदिमं भानं आसक्तिलक्षणत्वेनाहुः । अन्ये पुनर्व्यसनलक्षणत्वेन । अर्थं च स्वस्वरीत्या तं तमाहुः । मम तु भगवानेवं प्रेरितवानिति मयैवं व्याख्यातम् । गृहत्याग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति ।

व्यसनस्य तदाहुः **यदेत्यादि** । यदि एवं प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तरं व्यसनं 'तद्विना

१ संचारिभावरूपेण वर्तमाना 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन' इति सूत्रात् । 'मल्लानामशनि'रित्यत्र भक्तिरसोक्तेः । २ निरोधस्कन्धे तथोक्तेः । ३ द्वितीयदलानुभवस्य मुख्यत्वादित्यर्थः ।

स्यातुमशक्तिः' । सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्ये सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, कुतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इत्यत्रेवात्रापि साधनपौष्कल्येर्थशब्दप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वात्मभावपूर्वकक्षारूपं स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे 'प्रदानवत्सूत्रे' प्रभुचरणैर्व्युत्पादितः 'प्रकृतेपि सर्वात्मभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्यपूर्वकशरणेभावनेन स्वरूपैपरत्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढबीजस्वरूपमुक्तम् ॥ ५ ॥

एवं बीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः स्वत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्, किन्तु गृहं त्यक्तव्यमेवेत्याहुः **तादृशस्यापीत्यादि** ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं विनाशकं तादृशस्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयत' इत्यादि। भक्तेर्माहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः' 'न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत' इति द्वाभ्यां स्त्र्यादिसङ्गपरित्यागपूर्वकं निरुपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात् स्त्र्यादिसङ्गस्य क्लेशबन्धहेतुत्वकथनाच्च । तस्मान्निरन्तरं गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु मध्ये मध्ये गृहान्निर्गत्य, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृहस्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन बीजदार्ढ्यनिर्वाहप्रकार उक्तः ।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्तस्तं व्युत्पादयन्ति **त्यागं कृत्वेत्यादि** ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इत्यादिना आरंभदशाया

१ आर्तिविशेषो दैन्यम् । २ 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति गोपालतापिनीये माहात्म्यं शरणत्वम् । ३ सोहमित्यैक्यपरत्वं संचारिभावरूपम् । उभयं भक्तिकारणं बीजभावे निरूपितम् । ४ भक्तिरसस्यालम्बनोद्दीपनानुभावसंचारिभावरूपम् । ५ गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो गृहस्थाश्रमे भजनं संयोगरूपं, विप्रयोगरूपं त्याग इति द्विदलात्मकभक्तेर्द्वितीयदलप्रकारम् ।

यत्प्रकारकस्त्याग उक्तस्तं कृत्वा, यथाधिकारं श्रवणकीर्तनाभ्यां यतेत्, भक्तिप्रवृद्ध्यर्थं यत्नं कुर्यात् । तत्रापि न भक्तिवृद्धावेव पर्यवसन्नः, किन्तु **तदर्थार्थैकमानसः** । पूर्वं कृष्णशब्दस्योक्तत्वादत्र तच्छब्देन स एव परामृश्यते, अर्थश्च प्रयोजनम्, स अर्थो यस्याः सा तदर्था, स्वरूपमात्रफला गुणातीतभक्तिरिति यावत् । तस्याः य अर्थो भगवान्, तस्मिन्नेकं केवलं मानसं यस्य सः तथा । तथा च तादृशीं भक्तिं यो भगवत्साधकत्वेन न करोति, किन्तु स्वरूपदिदृक्षयैव करोति, स तथेत्यर्थः । तस्य सिद्धिमाहुः **लभत** इत्यादि । सः सुदृढां इतराप्रतिबध्यां सर्वाभ्योपि भक्तिभ्योधिकां निरोधलक्षणग्रन्थ उत्कृष्टत्वेन सूचितां परामूर्जितां भगवत्साधिकां भक्तिं लभते । तथाच दिदृक्षातिरिक्तयावदपेक्षारहितस्य परमभक्तिप्राप्तिर्भवति । तेनेदमेव भक्तिप्रवृद्धेः स्वरूपमित्यर्थः ॥ ६[1] ॥

एवं भक्तिप्रवृद्धिंस्वरूपपर्यन्तं तद्वृद्ध्युपायमुक्त्वा, तत्र प्रतिबन्धेऽनधिकारे च तदनुकल्परूपमुपायान्तरमाहुः त्यागेत्यादि ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे करिष्यमाणे कालादृष्टादिकृतदुःसंसर्गात्, तथाऽन्नतः प्राणपोषकादन्नाधतो बाधकभूयस्त्वं भक्तिवृद्धिबाधकबाहुल्यम्, अतस्तद्बाहुल्याद्धेतोः हरिस्थाने स्थेयम्, 'मन्निकेतं तु निर्गुण'मिति भगवद्वाक्येन तत्र देशदोषाभावात् । अत्र कथं स्थेयमित्याकांक्षायां प्रकारमाहुः **तदीयै**रित्यादि । तत्रापि तत्परैस्तदीयैः सहेति कथनेनानन्यतया सेवाकृतिः स्वस्यापि सूचिता । तेन 'सावधानैः परस्परं सस्नेहैरबहिर्दृष्टिभिर्भगवत्सेवैकपरैः स्थेयम् ।' तथा च तादृशस्थित्यां दुःसंसर्गस्याभावात्प्रसादादिना वा अंघ्रिपतुल्यवैष्णवादिभ्यो भिक्षया वा देहनिर्वाहेऽन्नदोषस्याप्यभावाद्भक्तिवृद्धिरित्यर्थः । एतेन नलकूबरप्रसंगे वैराग्याद् यस्त्यागो निर्णीतस्तस्यायं प्रकार इत्यपि बोधितम् । तस्याप्यसंभवे तदनुकल्पान्तरमाहुः, तत्र स्थितौ वा प्रकारमाहुः **अदूरे विप्रकर्षे** वेति । भगवन्मन्दिराद् भगवदीयेभ्यश्चादूरे, दूरे वा । यादृश्या सेवया स्वस्य सेवाभिमानो न भवति, भगवदीयेषु च निकर्षबुद्धिविरुद्धबुद्धिदोषदृष्टिक्षोभादिभिर्यथा चित्तं न दुष्यति, तथा स्थेयमित्यर्थः । यदि च कालादृष्टादिदोषेण तादृशां सङ्गो न भवति, तदा तत्र स्थितौ प्रका-

१ रसात्मतापर्यन्तम् ।

रान्तरं तदनुकल्पं वा आहुः **सेवाया**मित्यादि । तादृशभगवदीयसङ्गाभावेपि यद्यदूरायां विप्रकृष्टायां वा सेवायां आसक्तिर्दृढा भवेत् । अन्यकृतोपहासन्यक्कारादिभिरनपनोद्या भवेत् । एवं कथायां श्रूयमाणायां कीर्त्यमानायां वा तस्यामासक्तिर्दृढा भवेत्, सापि यावज्जीवम्, यावत्सामर्थ्यम्, जीवपदेन सामर्थ्यादिकमप्यर्थादाक्षिप्यते । अतस्तावत्पर्यन्तम्, न तु कञ्चित्कालम् । क्रियाविशेषणमेतत् । तस्य यावज्जीवं तत्कर्तुः पुंसः क्वापि नाशो न । इह लोके यथाधिकारं स्वरूपपरतायाः साधनपरतायाश्च नाशो न । परलोके च यथाधिकारं फलप्रतिबन्धश्च नेत्यर्थः । दृढकथासक्तिप्रकारश्च प्रक्षिप्ताध्यायेषु तृतीये 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्येति' श्लोके आचार्यैर्विवृतः । 'अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः । आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपद्रवाभावादिः स्वतःसिद्धः । सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यम् । भगवद्गुणगाने ते मुखरा एव भवन्ति । तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः । केवलं भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु, न तूपपन्नाऽनुपपन्ना वेति । तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समागता भवति । परं कायवाङ्मनोभिर्नमस्या सा, तदनुगुणतया कायवाङ्मनांसि स्थापनीयानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः । एतावदेव कृत्यम् । अत्र साधनं जीवनमेव, न तु कर्मकरणादिकमपि । प्रायश इति ते चेद्भावान्तरं न कुर्युः । कालादयश्च प्रतिबन्धकत्वाद्वा । अतोनेनैव प्रकारेणाग्रेतनानां निस्तारः ।' किञ्च, सेवादृढासक्तिप्रकारोपि तत्रैव 'पुरेह भूम'न्निति श्लोके विवृतः । 'हे भूमन् व्यापक पूर्वमपि विद्यमान इहास्मिन्मार्गे बहवोपि सङ्घशो योगिनो योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव त्वय्यर्पिता ईहा चेष्टा यैः । तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लब्धया प्राप्तया भक्त्यैव विबुध्य स्वरूपं ज्ञात्वा, हे अच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहित, ते गतिं मार्गं, येन प्रकारेण त्वं गच्छसि, तां प्रपेदिरे । पश्चात्त्वदनुगानां न कापि चिन्ता । अञ्जः अनायासेनैव परां लोकातीतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः । अत आत्मज्ञानापेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ।' अत्र नान्येषां सम्मतिः, किन्त्वहमेव वदामीत्याहुः **मतिर्ममे**ति । 'श्रद्धा'मुपक्रम्य 'मत्सेवायां तु निर्गुणे'ति । संवादसमाप्तौ च 'नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति 'यो यो मयि परे धर्म' इति च भगवद्वाक्यात् सदादृतभक्तिप्रश्ने, तामुपक्रम्य 'मत्कथाश्रवणे श्रद्धा' 'श्रद्धामृतकथायां म' इति च भगवद्वाक्यात् मम बुद्धिस्तादृशस्य नाशाभावं भासयति, तेन तथेत्यर्थः । यदि च जाते बीजभावदार्ढ्ये अजाते वा पूर्वोक्तानां तदर्थानां साधनानां कालादृष्टादिना प्रतिबन्धात्करणाशक्तिः, तदोपायान्तरमाहुः **बाधे**त्यादि । मुख्यः कल्पस्तु भगवत्कृपयैव सिध्यतीति न तत्र बाधसम्भावना । 'तदा भवेद्दयालुत्व'मिति निरोधलक्षणे निष्कर्षात् । दयायां च सत्यां प्रतिबन्धासम्भवात् । यत्र पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिनोक्तेनुकल्पे करिष्यमाणे क्रियमाणे वा बाधस्य विघटनस्य सम्भावना उत्कटकोटिकः संशयः, तदा तु एकान्ते भगवत्स्था-

नादौ वासो नेष्यते । तदा गृहे वा अन्यत्र वा यत्र क्वचित्स्थित्वा हरिरेव शरणं भावनीयः । 'हराम्यघं यत्स्मर्तॄणामिति' भारते भगवद्वाक्यात् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति गीतायां भगवद्वाक्याच्च । हरिरेव सर्वतो रक्षां करिष्यति । तुः संशयाविश्वासादिनिरासे । न संशयः, रक्षाकरणे संशयो नास्ति । तथा च पूर्वोक्तरीत्या भक्तिमार्गे प्रवृत्तिः संपाद्या । तत्र बाधे सत्यनुकल्पः करणीयः । तत्रापि बाधे तदनुकल्पः । तत्रापि बाधे शरणगमनं सर्वानुकल्परूपं करणीयम्, न तु पूर्वमेव सेवादिकं त्यक्त्वानुकल्पे प्रवर्तनीयम्, भगवदिच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वादिति ॥ ७–१० ॥

एवं सर्वं भक्तिवृद्ध्युपायं निरूप्य तदुपसंहरन्त एतद्विचारफलमाहुः **इतीत्यादि ।**

इत्येवं भगवच्छास्त्रं मया गुप्तं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतिः समाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं गीतायामेकादशस्कन्धेऽन्यत्र च भगवदुपदिष्टं शास्त्रं मया गुप्तं निरूपितं प्रकटीकृतम् । यः सदा एतद्गुप्तं शास्त्रं समधीयीत सम्यक्प्रकारेण चिन्तयेत्, इक् स्मरणे, इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । तस्यैतद्विचारयितुरपि रतिः प्रेमात्मिका दृढा स्यात् । तथा च तया दृढया संसाररागविनाशे जाते क्रमादन्यदपि भगवान् सम्पादयिष्यति । 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति भगवद्वाक्यात् । तथा चात इदमभीक्ष्णं विचारणीयमित्यर्थः ।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः ।
परप्रेरणयाभातं व्यवृणोत्पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता
भक्तिवर्धिनीविवृतिः सम्पूर्णा ॥

---

१ श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यतीति त्रिके आध्यात्मिकरत्युपादानं भक्तिदुर्लभत्वाय । 'कश्चिदेव हि भक्तो ही'ति वाक्यात् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभकृतटीकासमेता ।

शश्वत्प्रियासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसा ।
प्राप्ततन्निजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १ ॥

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

भक्तिवर्धिन्याम् । यथेति । यथा येन प्रकारेण । भक्तिः शास्त्रीया । प्रवृद्धा मानससेवारूपा सती फलोन्मुखा भवेत्तथोपायस्तत्प्रकारभूत उपायस्तनुवित्तजसेवया बीजभावदार्ढ्यसम्पादनरूपस्त्यागेन श्रवणकीर्तनरूपश्च निरूप्यत इत्यर्थः । तस्य साधनासाध्यत्वसिद्धान्तादुपायपदम् । अत्र बीजं रत्याख्य आद्यः कोमलो भावः भगवानेव शरणमित्याकारकः । येन भगवद्धर्मेषु रुचिर्भवति । भक्तिर्द्रुमः । फलं स्वाधिकारानुसारेणालौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरप्राप्त्या भगवद्भजनम् । स उपायो द्विविध इत्याहुः **बीजेति** । बीजरूपे रत्याख्ये भावे तनुवित्तजसेवया दृढे नाशसंभावनारहिते जाते तस्य भक्तिद्रुमस्य प्रवृद्धिः । फलोन्मुखत्वं स्यादित्यर्थः । अतस्तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयमित्येक उपायः । द्वितीयनिर्धारमाहुः **त्यागादिति** । त्यागाद्धेतोः सिद्धाच्छक्तितात्पर्यरूपाच्छ्रवणसहितकीर्तनादित्यर्थः । हरिस्थानवासे तदीयैः सह स्थितौ शक्तितात्पर्यनिर्धारो भवतीति भावः । द्वितीयपक्षेपि दार्ढ्यमपेक्षितमेवेति तुशब्दः । परन्त्वाद्यपक्षे गृहस्थित्या भावनाशशङ्कया तनुवित्तजसेवया तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयं भवति । द्वितीयपक्षे तु तदभावात्स्वत एव दार्ढ्यं सिध्यतीति विभेदः ॥ १ ॥

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

आद्यमुपायमाहुः **बीजदार्ढ्येति** । द्वितीयपक्षादयं पक्षः पृथगिति तुशब्दः । पाषण्डित्वाभावाय स्वधर्मतो वर्णाश्रमधर्मेण गृहे स्थित्वाऽव्यावृत्तो भोगार्थव्यावृत्तिरहितः । आश्रमधर्मत्वेन प्राप्तमृतुगमनादिकमेव कुर्वन्निति यावत् । श्रवणादिभिः सहितया पूजया द्रव्येषु भावात्मकत्वभावनरूपया कृष्णं फलात्मकं भजेत्सेवेत । तनुवित्तजसेवां कुर्यादित्यर्थः । ज्ञानमयद्रव्यसम्पादितायाः पूजात्वं 'धन्यास्त्वि'ति श्लोके निरूपितम् ॥२॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

व्यावृत्तोपीति । कामादिप्राबल्ये तत्कृतप्रतिबन्धाभावाय भोगार्थव्यावृत्तिसहितोपि सेवाऽनवसरेऽनिषिद्धप्रकारेण नित्यमपि भोगं कुर्वन्नित्यर्थः । हरौ चित्तं स्थापयित्वेति शेषः । श्रवणादौ यतेत्, प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रार्थमेव भोगं कुर्वन् सदा सेवानवसरेपि यत्नं श्रवणादिविषयकमेव सम्पादयेदित्यर्थः । एवं कृते बीजभावस्य दार्ढ्यं भवति । तत्राभिज्ञापकमाहुः **ततः प्रेमेति** । एवं कृते सा भक्तिः प्रेमशब्दवाच्या भवति । पूर्वं लोकेपि स्नेहः स्थितो, भगवति परमधिकः । 'सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रितिलक्षणात् । एवं कृते तु सर्वतो निवृत्तो भगवन्मात्रविषयको भवतीत्यर्थः । तदनन्तरं सासक्तिशब्दवाच्या भवति। अनायासेनापि भगवानेव स्मृतो भवति येन तादृशस्नेहो भवतीत्यर्थः । 'चित्तस्वभाव आसक्तिर्यस्त्यक्तुं नैव शक्यते । स्नेहो रतिरिति प्रोक्त' इति तृतीयस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तम् । आसक्तित्वसाधकोपि पूर्वोक्त एव प्रकार इति तथेत्युक्तम्। **व्यसनं चेति** । अत्रापि स एव प्रकार इति चकारः । विशेषेणासनं क्षेपणं येन । येन भावेनान्यास्फुरणं भवति । प्रपञ्चविस्मृतिरिति यावत् । आसक्तिः प्रपञ्चविस्मृतियुता सती व्यसनम् । तथाच निरोधो व्यसनशब्दवाच्यस्तत्त्वं भक्तेर्यदा भवेत् । तत्तदा बीजं दृढं भगवच्छास्त्रे उच्यते । भक्तेर्व्यसनत्वं बीजदार्ढ्यस्याभिज्ञापकमित्यर्थः । दार्ढ्यस्वरूपमाहुः **नापीति** । नाशाप्रतियोगीत्यर्थः । सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनामपि वक्ष्यन्तीत्यपिशब्दः ॥ २½ ॥

प्रेमादित्रयस्याभिज्ञापनाय तत्कार्याण्याहुः **स्नेहादिति** ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

सर्वतो निवृत्ताद्भगवन्मात्रविषयकस्नेहादित्यर्थः । रागविनाशगृहारुचिकृतार्थतानां क्रमात्प्रेमाद्यभिज्ञापकत्वमिति भावः । रागविनाशो विषयवैराग्यम् । स्नेहस्य विषयेभ्यो निवृत्तौ तेषु वैराग्यमुदासीनता भवतीत्यर्थः । आसक्त्या गृहारुचिर्भवति ॥ ४ ॥

अत्र नञर्थो विरुद्धत्वमित्याशयेनारुचिपदार्थं विवृण्वन्ति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकृत् ।

गृहस्थानामिति । अभगवदीयानामिति शेषः । एतेषां भावबाधकत्वेनानात्मत्वेन च भानमरुचिपदार्थ इतिभावः । भार्यापुत्रयोरात्मत्वे शास्त्रसिद्धे अपि भक्तानां भगवानेवात्मरूपो, न तु तावितिभावः । अत एव सेवाप्रातिकूल्ये भार्यादीनामपि त्यागोऽ-

प्रोक्तः । यदा भक्तिर्व्यसनरूपा स्यात् । बाधकत्वेनाप्यन्यास्फुरणं स्यात् । तदैव कृष्णे कृतः समर्पित ऐहिकपारलौकिकः सर्वोप्यर्थो येन तादृशः सिद्धात्मनिवेदो भवतीत्यर्थः । पूर्वं सामान्यतो निवेदने कृतेपि तत्सिद्धिर्व्यसने एव जाते भवति । तथाचात्मनिवेदनरूपा भक्तिर्व्यसनकार्यमितिभावः । यथा गोपाः सर्वस्य भगवदर्थत्वज्ञानेन प्रपञ्चविस्मृतेर्जातत्वात्सर्वार्थे भगवानेव वक्तव्य इति ज्ञानयुक्ताः क्षुन्निवृत्त्यर्थमपि भगवन्तमेव प्रार्थितवन्तः । अत एव 'व्यसनान्नान्यगामिन' इति तत्र निबन्धे निरूपितम् । पूर्वयोः किञ्चित्कालं व्यवधानमपि। इदं तु व्यसनसिद्धौ शीघ्रमेव भवतीति यदा तदैवेत्युक्तम्। तत्र किञ्चिदन्यदप्याहुः । **तादृशस्यापीति** सिद्धात्मनिवेदनस्यापीत्यर्थः । गृहस्य भगवति समर्पितत्वेन सर्वथा बाधकत्वाभावान्न सर्वात्मना त्यागः, किन्तु सततस्थितौ भोगदृष्टिसम्भवात् भोगस्य च सेवाफलग्रन्थे बाधकत्वनिरूपणान्मध्ये मध्ये लीलास्थलेषु गोवर्धनादिषु गच्छेदिति सततमित्युक्तम् । **विनाशकृत्** । भोगसम्भावनया बीजभावनाशकृदित्यर्थः । एवं तनुवित्तजसेवया बीजदार्ढ्यसम्पादने भक्तिर्व्यसनान्तावस्थां प्राप्ता चेतस्तत्प्रवणलक्षणमानससेवारूपा दृढा सती अलौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरफलोन्मुखा भवतीत्येक उपाय उक्तः । अत्र भार्यादिप्रातिकूल्ये यः प्रतिकूलस्तस्य त्यागो, न तु गृहस्य । अत एव 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्यत्र गृहं भार्यादिकमिति व्याख्यातम् ॥ ५½ ॥

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

द्वितीयमाहुः **त्यागं कृत्वेति** । गृहत्यागं कृत्वा । स चासावर्थश्च तदर्थः । आद्यश्लोके उद्देशत उक्तः श्रवणकीर्तनरूपो योर्थस्तदर्थं तद्विषयकमेवैकं मानसं यस्य तादृशः सन् । श्रवणकीर्तनार्थमेव हरिस्थाने भगवद्भक्तसंनिधौ तिष्ठन्निति यावत्। एतादृशः सन् यो यतेत् । श्रवणादाविति शेषः । स भक्तिं सुदृढां व्यसनत्वं प्राप्तां लभते । ततः सर्वतोऽधिकां परां फलोन्मुखामपि लभत इत्यर्थः । भक्तेः पूर्वमपि सिद्धत्वात्सविशेषणे हीतिन्यायेन विशेषणलाभो विधीयत इति ज्ञेयम् । 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मिति वाक्यादेतस्य पक्षस्य मुख्यत्वम् । अत एव प्रथम–पक्षे नाशसम्भावनाप्यस्तीत्युक्तम्, अत्र तद्व्यावर्तनाय तुशब्दः । मुख्यांशं विशदयन्ति **सुदृढामिति** । आद्यपक्षे सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनाप्यस्तीति तदकृत्वा बीजदार्ढ्यसम्पादनेन भक्तेर्दार्ढ्यं व्यसनत्वं सम्पादनीयं भवति । अत्र पक्षे तु गृहाभावेन नाशसम्भावनाऽभावात्पूर्वोक्तबीजदार्ढ्यं यत्नं विनैव सुदृढा व्यसनत्वं प्राप्ता भवतीत्येतावदंशमादाय 'पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय' इति न्यायेन मुख्यत्वम् । फलसाधने तु साम्यमेवेति वक्ष्यते ॥ ६½ ॥

ननु त्यागमात्रमेव वक्तव्यं भवति, हरिस्थानवासो भक्तसङ्गश्च पुनः किमर्थं बोध्यत इत्यत आहुः **त्याग इति** ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

धर्मद्वयरहितकेवलत्यागे बाधकभूयस्त्वमस्त्यतो हेतोः । तथान्नतो दुःसंसर्गाद्धेतोः हरिस्थाने तदीयैः सह स्थेयमित्यन्वयः । हरिस्थानवासराहित्ये बाधकभूयस्त्वं 'सहायसङ्ग-साध्यत्वा'दित्यारभ्य 'नैव त्यागः सुखावह' इत्यन्तं संन्यासनिर्णयोक्तमस्तीति शेषः । अतो हरिस्थाने स्थेयम् । तत्र ते दोषा न भविष्यन्तीति भावः । तथा भक्तसङ्गराहित्ये अन्न-तो हेतोः अन्नार्थं दुःसंसर्गात् दुष्टानां संसर्गसम्बन्धाद्धेतोस्तदीयैर्भगवदीयैस्तत्रापि तत्परै-र्भगवत्परैर्नतु हिरण्यकशिपुप्रभृतिवदतत्परैः सह स्थेयम् । तदान्नार्थमपि तेषामेव संसर्गो भविष्यति, न तु दुष्टानामिति भावः ॥ ७½ ॥

हरिस्थानस्य द्वैविध्याशयेनाहुः अदूरे इति ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

पूजाप्रवाहवति गोवर्धननाथजगन्नाथादिस्थाने भगवतः अदूरे पूजाप्रवाहरहित-यमुनातटादिषु लोकदृष्ट्या भगवतो विप्रकर्षे वा स्वस्य चित्तं यथा न दुष्यति, दोषयुक्तं न भवति, तथा स्वयमेव विचार्य स्थेयमिति पूर्वेणान्वयः ॥ ८ ॥

ग्रन्थोक्तपक्षद्वयमुपसंहरन्ति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायामिति । आद्ये बीजदार्ढ्यसम्पादनपक्षे सेवायां क्रियमाणायां, द्वितीये त्यागपक्षे कथायां वा क्रियमाणायां सत्यां यस्य आसक्तिरासक्तित्वं प्राप्ता भक्तिर्दृढा व्यसनत्वं प्राप्ता भवेत्, तस्य पुरुषस्य भक्तिबीजस्य नाशो न । तथा च व्यसनरूपा नाशसम्भाव-नारहितबीजा भक्तिश्चेतस्तत्प्रवणलक्षणमानससेवारूपा सती अलौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरफलं यथाधिकारं सम्पादयतीति भावः । नात्र वर्णादिनियम इत्याहुः **यावज्जीवमिति** । सर्वानेव जीवान् मर्यादीकृत्येत्यर्थः । व्यसनसिद्ध्यनन्तरं हरिस्थानवासनियमोपि तथा नास्तीति क्वापीत्युक्तम् । किन्तु सततगृहस्थितिर्निषिद्धेति पूर्वमुक्तम् । वर्णादिसाधारण्यं प्रमाणेन विरुध्यत इत्याशंक्यात्र प्रमाणबलाभावायाहुः **मतिर्ममेति** । अस्मन्मतिसिद्धोयं पक्षः, अतः प्रमेयबलसिद्धः । वाचा कथनेपि मतिसिद्धत्वमेव मुख्यमिति भावः ॥ ९ ॥

पक्षद्वयस्य व्यवस्थामाहुः **बाधेति** ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

कामादिभिर्बाधसम्भावनायाम् । इन्द्रियजयसामर्थ्याभाव इति यावत् । तदा एकान्ते वासस्त्यागपक्षो नेष्यते । तथाचेन्द्रियजयसामर्थ्याभावे पूर्वोक्तपक्षेण स्थेयम् । तत्सामर्थ्ये त्यागपक्षेण हरिस्थाने तदीयैः सह स्थेयमिति व्यवस्थेति भावः । एवं व्यवस्थायां 'गृहं सर्वात्मने'ति श्लोकसंमतिसूचनाय तुशब्दः । नन्वत्यागपक्षे गृहे स्थितौ तत्रासक्तिरनिवार्या । त्यागपक्षे च गृहत्यागस्याश्रमान्तराग्रहणे प्रमाणविरुद्ध-त्वात्पापसम्भावनेत्याशंक्याहुः **हरिस्त्विति** । सर्वतो गृहासक्तेः सर्वपापेभ्यश्चेत्यर्थः । 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इत्यस्यार्थोनुसंधेयः । एतद्वाक्या-नुसंधानेन न संशय इत्युक्तम् । हरित्वाद्रक्षणं युक्तमेवेति तुशब्दः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति **इत्येवमिति** ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

य एतदिति । एतदध्ययनेनापि रतिर्बीजभावरूपा दृढा स्यादिति । बीजदार्ढ्य-सम्पादनसाधपक्षस्यायमप्येकः प्रकार इति तस्यापीत्यपिशब्दः ॥ ११ ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।
वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता भक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतटीकासमेता ।

बर्हिबर्हलसन्मौलि वेणुवादविशारदम् ।
दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभङ्गललितं महः ॥ १ ॥
श्रीवल्लभतत्सुतवरगुरुपितृकृष्णान् मुहुः प्रणमन् ।
टीकामतीव रम्यां कुर्वे श्रीभक्तिवर्धिन्याः ॥ २ ॥
सगुणा भक्तिर्नवधोक्तैकविधा निर्गुणा ततो दशभिः ।
पद्यैरुक्तो वृद्धिप्रकार एकेन चोपसंहारः ॥ ३ ॥

अथ दशविधैर्भक्तभावैर्दशविधा भक्तिरिति दशश्लोकैर्भक्तिवर्धिनीशास्त्रे भक्तिवृद्धि-

प्रकारं एकेन श्लोकेन तदुपसंहारं तत्पाठफलं चाहुः श्रीवल्लभाचार्याः **यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यादिना ।**

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण **भक्तिर्भावरूपा प्रवृद्धा** अवस्थाविशेषविशेषाविर्भावेन रसरूपतापर्यन्तं प्राप्ता भवति, **तथा** मया **उपायः** साधनं **निरूप्यते** कथ्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिसाधनं पूर्वमनुक्त्वा भक्तिवृद्धिसाधनोपदेशः कथं क्रियत इति चेत् । अत्रोच्यते । पुष्टिमार्गे प्रभो 'रसो वै स' इति श्रुत्या एकवचनाविरुद्धसामान्यरसशब्दप्रयोगेणानेकविधरसरूपावशिष्टैकरसरूपत्वं सिध्यति । अत्र प्रभुरनेकरसविशिष्टोपि प्राधान्यतः कीदृशरसरूप इति जिज्ञासायां शृङ्गाररसरूप एवेत्यायाति । यतः श्रुतिभिः परमकाष्ठापन्नानन्दस्वरूपफलरूपदर्शने प्रार्थिते भगवतोद्दीपनविभावरूपश्रीगोवर्धनश्रीयमुनादिविशिष्टे प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तर्गतब्रह्मानन्दमध्यव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतश्रीमद्वृन्दावने 'नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बक'मित्यादीदृशोऽनुभावरूपो यो रासस्तद्रसोन्मत्तः शृङ्गाररसालम्बनीभूतनायिकारूपगोपीकदम्बकयुक्तमेव परमकाष्ठापन्नफलरूपं स्वस्वरूपं ताभ्यः प्रदर्शितमिति बृहद्वामनपुराणे श्रूयते । अन्यरसस्वरूपत्वेनैव प्राधान्ये तद्विभावादिविशिष्टमेव स्वरूपं प्रदर्शितं स्यात् । न च तस्य स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । 'कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डल' इति बृहद्वामनपुराणे सारस्वतकल्पे स्वावतार उक्तो भगवता श्रुतीनामनुग्रहार्थम् । तत्कल्पानुसार्येव श्रीभागवतं तत्स्वरूपदर्शनेनैव च निखिलवेदपुराणधर्मजिज्ञासाब्रह्मजिज्ञासादिभिरप्यजातचित्तप्रसादानां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादो जातो, न त्वन्यस्वरूपदर्शनेनेत्यर्थापत्तिरूपप्रमाणेन तस्य स्वरूपस्यैव परमकाष्ठापन्नत्वे सिद्धे तत्स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभावाभावात् । एवं च सिद्धे शृङ्गाररसरूपत्वस्यैव प्राधान्येन धर्मत्वेऽन्यरसस्वरूपाणां च तदङ्गत्वेन धर्मत्वे, शृङ्गाररसस्य तु रतिरूपस्थायिभावात्मकत्वात् रतिरूपस्थायिभावस्य च भगवद्रूपत्वेन ब्रह्मत्वात् ब्रह्मणश्च व्यापकत्वात् भगवद्विषयकरतेरपि व्यापकत्वे सिद्धे सर्वजीवेषु त त्स्थितत्वं सिद्धम् । तत्र रतेर्ब्रह्मत्वेनानन्तरूपत्वाद्भगवद्विषयिणी श्रीमद्व्रजभक्तादिनिष्ठारतिः शृङ्गाररसरूपा भवति । अस्मदादिनिष्ठा भगवद्विषयिणी रतिर्भक्तिरसरूपा भवति । सैवास्मदादिनिष्ठा सपरिकरभगवदतिकृपायां स्वस्य पूर्वरूपं तिरोधाप्य शृङ्गाररसरूपतामपि प्रकटीकरोति । एवं च 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते' । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते ।' 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति वाक्येभ्यः प्रेमप्रथमावस्थारूपत्वात् प्रभुविषयकत्वाच्च भावशब्दवाच्या स्नेहरूपत्वेन भक्तिशब्दवाच्यापि

भवति । तत्र सा भक्तिर्द्विविधा । मर्यादापुष्टिमार्गीया शुद्धपुष्टिमार्गीया च । तत्र 'यमेवे'ति श्रुतिसिद्धं मर्यादापुष्टिमार्गीयं वरणं शुद्धपुष्टिमार्गीयं च वरणमिति वरणेपि द्वैविध्यमिति सिद्धान्तात् मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादानुग्रहाभ्यां मिलिताभ्यामेव कार्यसिद्धिः । शुद्धपुष्टिमार्गे तु विशुद्धानुग्रहमात्रेणैव कार्यसिद्धिः । एवञ्च मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादापुष्टिमार्गीयभगवद्वरणप्रेरिततादृशजीवकृततादृगाचार्यसंश्रयसञ्जाततादृङ्नामनिवेदनमात्रेणैवातिमात्राच्छादकमायारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तरसापरपर्यायभावस्याविर्भावः । 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इत्यादिवाक्यात् । शुद्धपुष्टिमार्गे तु शुद्धपुष्टिमार्गीयश्रीमद्व्रजभक्तकृपाविष्टभगवत्कृपाप्रेरिततादृशजीवकृते शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयसञ्जाततन्मार्गीयनामनिवेदनमात्रेणैव । न चैतन्मार्गीयनामनिवेदनेपि न सूक्ष्मबीजरूपभावो दृश्यत इति वाच्यम् । तादृङ्नामनिवेदनादिभिः प्रतिबन्धकाविद्यापगमेपि सूक्ष्मतस्तदैव तद्दर्शनाभावात् । समयविशेषसमुद्भूतकिञ्चिदश्रुपुलकादिभिस्तदुन्नयनाच्च रतिमात्राच्छादकमायारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तभावस्याविर्भावः । 'न रोधयती'त्यारभ्य 'यथाऽवरुन्धे सत्सङ्ग' इत्यादिवाक्यात् । एवं च भावस्याविर्भावमात्रमेव, न तूत्पत्तिरिति नोत्पत्तिप्रकार उक्तः । किन्तु वृद्धितत्प्रकार एवोक्त इति । न चाविर्भाव एव उत्पत्तिरिति वाच्यम् । 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः । नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यमिति सा त्रिधे'ति त्रिविधोत्पत्तौ घटादिवदनित्यत्वाभावान्न जननरूपोत्पत्तिः । जीवात्मवन्नित्यपरिच्छिन्नत्वान्न समागमरूपोत्पत्तिः । नित्यापरिच्छिन्नत्वेपि धर्मरूपस्य भावस्य तनुत्वाभावान्न प्राकट्यरूपोत्पत्तिः । किन्तु वेदस्य यथा प्रलये सूक्ष्मरूपेणावस्थानमेवमेव भावस्यापि पूर्वसूक्ष्मरूपेणावस्थानं पश्चात्सृष्टौ वेदस्य विस्तर इव स्वकारणैः प्रवृद्धिमात्रमित्याविर्भावस्य उत्पत्तिरूपत्वाभावात् । तस्माद्भक्तेः सूक्ष्मबीजरूपभावरूपेण सर्वजीवेष्वपि नित्यस्थितत्वात्तस्य च आचार्यकृपामात्रेणैव आविर्भावस्यैव जातत्वात् साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च तद्वृद्धिप्रकार एवोच्यते, न तु तदुत्पादनप्रकारः, त्रिविधोत्पत्तेरप्यसम्भवात् । न च 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया य' इत्यादिना कथासुधापानस्य भक्तिवृद्धिहेतुत्वमप्युच्यत इति व्यर्थो भवत्प्रयास इति वाच्यम् । अत्रैव श्लोके 'वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोध' मित्यग्र उक्तत्वादस्य वृद्धिप्रकारस्य मर्यादामार्गीयभक्तिविषयत्वात् । शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तेस्तु 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्याद्वैराग्यज्ञानानपेक्षत्वादिति जानीहि । वृद्धौ प्रकर्षस्तु फलानुभवपर्यन्तसम्पादकत्वरूपः ।

ननु सा भक्तिप्रवृद्धिः कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः **बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति** । तत्र **त्यागात्** भगवद्भजनप्रतिबन्धकगृहादित्यागात् । अथ च **श्रवणकीर्तनाच्च** प्रेमासक्तिव्यसनरूपावस्थाविशेषविशेषाविर्भावेन पूर्वोक्त-

प्रकारकरत्यपरपर्यायबीजरूपो यो भावस्तस्मिन् दृढे केनापि तिरोधापयितुमशक्ये सति शुद्धपुष्टिमार्गीया भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । रासरूपतारूपवृद्धिप्राप्ता स्यादित्यर्थः । न चात्र त्यागपदेन सर्वत्याग एव कुतो नोच्यत इति वाच्यम् । अग्रे 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यनेन वैदिकलौकिकधर्मसाहित्येन गृहस्थितस्यैव भजनस्य बोधितत्वेन तथाव्याख्यानस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अत्रेदं तत्त्वम् । त्यागस्तावत्त्रिविधः । भगवद्भजनाननुकूलानामेव गृहादीनां त्यागः, न तु तदनुकूलानामपि । द्वितीयस्तु भगवद्भजनाननुकूलगृहमात्रस्यैव त्यागः, न तु भगवद्भजनानुकूलानां स्वगृहस्थितान्यभगवदीयानामपि । तृतीयस्तु भगवद्भजनानुकूलगृहस्थितभगवदीयानामिव तद्भजनानुकूलतदन्यभगवदीयानामपि त्यागः । तत्र प्रथमस्त्यागो बीजदार्ढ्यप्रकारे तनुजवित्तजसेवारूपप्रारम्भदशासामयिकः । द्वितीयस्त्वासक्तिदशाविर्भावरूपमध्यदशासामयिकः । तृतीयस्तु व्यसनदशाविर्भावरूपपूर्णदशासामयिकः । तत्रैव तच्छ्लोकोक्तस्त्यागो बीजदार्ढ्यप्रकारप्रारम्भदशात्यागः । अग्रे 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्। त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस' इत्यनेन वक्ष्यमाणः स मध्यमदशात्यागः । 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयोक्तत्यागस्तु फलदशात्याग इति बोध्यम् । अत्रायं श्लोकः सूत्ररूपः, अग्रिमग्रन्थो व्याख्यानरूप इति ज्ञेयम् ।

केचित्तु बीजं नाम 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपाधिकरूपणया पुष्टिमार्गीयं भगवद्वरणम्, अन्यथा तत्र प्रवृत्तिरेव न स्यादित्यादिप्रकारेण व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । वटादिवृक्षस्य वटादिबीजमेव बीजम्, न तु पिप्पलादिबीजं बीजम् । एवं च जीवस्य वृक्षसजातीयत्वमुत्सर्गतः सर्ववादिसिद्धम्, अन्यथा पिप्पलादिबीजेभ्योऽपि वटाद्युत्पत्तिः स्यात् । तथात्रापि स्नेहरूपभक्तेरपि स्नेहरूपभक्तिरूपमेव बीजं भवितुं योग्यम्, सजातीयत्वात् । अत एवोपसंहारे 'तस्यापि स्याद्दृढा रति'रित्यनेनोपक्रमोक्तभावपर्यायरतिशब्देन भावस्यैव दार्ढ्यमुक्तम्, न तु पुरुषोत्तमवरणादीनाम् । एवं च यथा वर्षासमयो नववारिसेकेन क्षेत्रान्तःस्थितं बीजं क्षेत्रनिष्ठं प्रतिबन्धकरूपं काठिन्यं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोति, तथा च निरुपाधिपुरुषोत्तमवरणादिकं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहद्वारा जीवान्तःस्थितं तत्परपर्यायं सूक्ष्मरूपत्वात् बीजरूपभावं मायातिरस्करिणीरूपं प्रतिबन्धकं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोतीत्यसाधारणनिमित्तकारणरूपमेव, न तु भाववत्। तत्समवायि तु इदमेवेति ज्ञापयितुं बीजपदमुक्तम् । अत्र अन्यथा मूलकारणदार्ढ्यें स्यादित्याद्येव श्लोकनिबन्धः कृतः स्याच्छ्रीमदाचार्यचरणैः । न च वटादिबीजानामपि वटादिवृक्षं प्रति निमित्तत्वमेव दृष्टम्, न तु समवायिकत्वम्, कार्यस्य वटादेस्तत्समवेतत्वाभावात्, तथैव भावरूपबीजस्यापि निमित्तत्वमेवेति सिद्धे समवायित्वोक्तिर्विरुद्धेति वाच्यम् । यथा वटादिबीजानां निमित्तत्वेऽपि कन्दरूपबीजानां समवायित्वदर्शनेन समवायित्वम्, एवमेव भावरूपबीजस्यापि ब्रह्मत्वेन

'स हैतावानास' इति श्रुतेः, अथ च समवायित्वेनानुभवाच्च समवायित्वोक्तेर्विरुद्धत्वाभावात् । तस्मादुपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया युक्तिपर्यालोचनयापि बीजरूपो यो भाव इत्येव व्याख्यातमस्माभिरित्यास्तां तावत् ॥ १ ॥

ननु बीजदार्ढ्योपाय उच्यतामित्याकाङ्क्षायामाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।**

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र पूर्वोक्तो भावो बीजम्, तस्य दार्ढ्यप्रकारस्त्वयं यत् 'भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्क्रियाम्। उदासीने स्वयं ॱ र्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति श्रीभागवततत्त्वदीपनिबन्धे सिद्धान्तितत्वात् । भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतो भगवद्भजनानुकूललौकिकवैदिकधर्मतश्च अव्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् कृष्णं श्रीमद्गोपीजनविशिष्टं कृष्णपदार्थं फलरूपं भजेत्, कृष्णविषयिकीं सेवां कुर्यादित्यर्थः । अत्र यद्यपि स्वधर्मत इत्यत्र स्वपदस्यात्मात्मीयवाचकत्वात् स्वधर्मपदेनात्मधर्मरूपो दासधर्मोऽप्यायाति, तथापि न व्याख्याने संगृह्यते, किन्त्वात्मीयधर्मरूपवैदिकलौकिकधर्मा एव संगृह्यन्ते । यतो भजेत्पदार्थस्य सेवाकारणस्य सेवकधर्मत्वात् भजेत्पदेनैवात्मधर्मरूपदासधर्मसंग्रहस्य जायमानत्वादिति बोध्यम्। कृष्णशब्दस्य श्रीमद्गोपीजनविशिष्टकृष्णपरत्वं तु **मत्कृतप्रथमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्यां** 'कर्ता ज्ञः सकलस्ये'ति पद्यव्याख्याने मया सप्रपञ्चमुक्तमिति तत्रैवावलोकनीयम्। अत्र वर्णाश्रमधर्मत्यागेन भजने यद्यपि पापं न भवति, 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदना'मित्यादिवाक्येन विहितत्वात्, तथापि स्वधर्मत्यागेन भजने गृहस्थितानां पुत्रकलत्रादीनां तादृग्विश्वासाभावात् स्वस्मिन्नसद्बुद्ध्या सेवौदासीन्येन बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभेन च सेवाया अनिर्वाहः स्यात् । न च तर्हि पुत्रकलत्रादीनां निन्दया स्वचित्तक्षोभजनकानां बहिर्मुखानां सङ्गत्यागस्य कर्तुं शक्यत्वे 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्युक्तत्वात् सेवाप्रतिकूलतायामेव पुत्रकलत्रादीनां त्यागस्य सिद्धान्तत्वेनौदासीन्ये गृहे स्थित्वा स्वयं कर्तव्यस्य बोधितत्वात् । न च स्वयमेव सर्वं क्रियतामिति वाच्यम् । स्वधर्मत्यागेन तेषामौदासीन्याच्च स्वयमेव सेवासामग्रीसम्पादनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । सेवाबाधः प्रसज्येतेति । अथ च स एवोत्तमः सेवको यः स्वामिन आयासं न सहते । एवंस्थिते गृहस्थे सेवकेन वैदिकलौकिकधर्मत्यागेन भजने क्रियमाणे तं दृष्ट्वान्यैरपि तदनुयायिभिस्तथैव भजने कृते स्मरणार्थकवैदिकलौकिकधर्मनाशे जायमाने 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह'मिति वाक्यात् धर्मरक्षार्थं भगवतः प्रयत्नकरणे महायास उत्पद्येत । स चायासः स्वदत्त एवेति गृहस्थसेवकस्यानुत्तमसेवकत्वं च प्रसज्येतेत्यतोऽपि हेतोः स्वधर्मत अव्यावृत्तो भजेदित्युक्तमित्यवधेहि ।

ननु केवलमेव सेवनं कर्तव्यम्, अथवा किञ्चिदन्यदन्यदपि कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **पूजया श्रवणादिभिः**। अत्र विनापि सहयोगं तृतीयेत्युक्तत्वात्सहशब्दाप्रयोगेपि तृतीया। तथा पूजया श्रवणादिभिः सहेत्यर्थः सम्पन्नः। अथाप्रधानतृतीयानिर्देशात्सेवाया एव प्राधान्यम्। पूजायाः श्रवणादेश्च गौणत्वमेव। अत्र पूजापि गृहस्थितानामनौदासीन्यसम्पादनार्थं बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभाभावार्थमेवोक्ता। अन्यथा शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवामात्रकरणे विध्युक्तत्वाभावज्ञाने तेषामौदासीन्यं स्यात्। तस्मात् पूजासाधनैः शङ्खघण्टाद्युपचारैरपि सह सेवा कर्तव्येत्युक्तम्, परन्तु शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाविरोधिपूजासाधनैर्न कर्तव्येति। न च पुष्टिमार्गविरोधिपूजासाधनत्यागेपि तेषामौदासीन्ये का गतिरिति वाच्यम्। पञ्चोपचारषोडशोपचाराष्टादशोपचारचतुःषष्ट्युपचारैः पूजा विहितेति उपचाराणामनियतत्वेन कमपि पक्षं करोतीति तेषामौदासीन्याभावात्। अत एव अप्रधानतृतीयया श्रवणादित्रयमपि सेवाविधेर्न कर्तव्यम्। मुख्यतया सेवां कृत्वा सेवासमयातिरिक्तसमये श्रवणादिकं कर्तव्यमिति तस्यापि गौणत्वमिति।

यत्तु स्वधर्मतो दासधर्मतो भजेत्, अव्यावृत्तः लौकिकव्यावृत्तिरहितः सन् इति व्याख्यानं, तत्र गृहे स्थित्वा भजने लौकिकव्यावृत्तिराहित्यं सर्वथा न भवतीति विचार्यम्। यद्वा। कृष्णं फलात्मकं पूजया पूजासाधनैर्भजेत्। सेवां कुर्यात्, न तु पूजयेत्। तथा च सेव्यसेवकभावेनैव कृतिं कुर्यात्। न तु 'देवो भूत्वा देवं यजेदि'ति वाक्यात् स्वस्मिन् देवत्वं भावयेत्। किन्तु दासत्वमेव। न च भजेदित्येतावतैवायमर्थ आयात्येव, तथा च पूजयेदिति वचनं व्यर्थमिति वाच्यम्। भजेदित्येतावत्युक्ते कया सामग्र्या भजेदित्याकाङ्क्षायां पूजया पूजासाधनैरेव भजेदिति बोधनेन तस्य सार्थक्यात्। एवमेव श्रवणादिभिरपि भजेत् श्रवणादिकमपि सेव्यसेवकभावेनैव कुर्यात्, न तु सेवकत्वमात्रबुद्ध्या। तत्र प्रथमव्याख्याने तु सेवानुकूलसाङ्गपूजासाधनैः सह भजनम्, न तु गृहस्थितानामौदासीन्याभावाय बहिर्मुखजनितचित्तक्षोभाभावाय मार्गनिन्दाभावाय चेति ज्ञेयम्। द्वितीयव्याख्याने तु प्रायशो यैरेव स्तुतिभिः पूजा भवति, तैरेव स्तुतिभिः सेवा भवति। परन्तु पूजाविहितत्वेन समर्पणम्, न तु दास्योपयोग्युचितानुचितत्वविचारेण। सेवायां तु दासोपयोगिशुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यस्नेहसदृशभावनया समर्पणं स्वस्य स्नेहाभावेपीति विशेषः। न च स्नेहाभावे कथं फलं भविष्यतीति वाच्यम्। स्नेहवच्छुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यमार्गीयत्वपक्षपातात्। इदं यथा तथा 'स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तर'मिति दशमस्कन्धीयब्रह्मस्तुतिपद्यव्याख्याने भक्तिहंसे प्रपञ्चितमस्मत्प्रभुभिरिति तत्रैवावलोकनीयम्। अत एवोक्तं भजेदित्येव, न तु पूजयेदिति। अत्र यथा पूजासाधनानां शुद्धपुष्टिमार्गीयेण समर्पणम्, स प्रकारस्तु मत्कृत**शुद्धपुष्टिसेवासरणौ** द्रष्टव्यः, रहस्यत्वादत्र नोक्त इति ज्ञेयम्।

ननु सेवा हि सेव्यसन्तोषजनकक्रियया सिध्यति। सा च क्रिया पादसंवाहनादि-

रूपा। श्रवणादौ तु क्रियात्वाभावात्कथं तेन सेवा सिध्यतीति चेत्। अत्र ब्रूमः। सेव्यसन्तोषजनकधर्ममात्रेणैव सेवा सिध्यति लोके, न तु क्रियामात्रेण, तथैवानुभवात्। तथा च श्रवणादेरपि तादृशधर्मत्वात्तेनापि सेवासिद्धिर्भवत्येवेति जानीहि। यद्वा। श्रवणादिभिः सेवानुकूलभावभगवत्स्वरूपसेवाप्रकारादीनां ज्ञानस्य कृतिपर्यवसायित्वमेवेति क्रियात्वमेव ज्ञेयम्। न च सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे'त्यत्र तनुवित्तजसेवैवोक्ता, न तु श्रवणादिजा सेवापीति वाच्यम्। तनुजसेवायामेव श्रवणादिजसेवाया अन्तर्भावात्। तथा हि। तत्र तनुजावित्तजा सेवा द्विविधा मुख्या गौणी च। तत्र प्रभुसुखमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् स्वधर्मपर्यवसायिनी मुख्या। स्वधर्मत्वमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् प्रभुसुखपर्यवसायिनी गौणी। तत्रेन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणसङ्घातरूपतनौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियसत्त्वात् ज्ञानेन्द्रियैर्घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वङ्मनोभिर्भगवत्सेवोपयोगिषु स्वविषयेषु सदसद्विवेचनजा सेवा, अथ च कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाणिपादैर्भगवत्सेवोपयोगिवचनकथनार्थगमनचरणसंवाहनवस्त्वानयनादिकसेवा, अथ च कर्मेन्द्रियाभ्यां पायूपस्थाभ्यां सेवाप्रतिबन्धकमलकामनिवृत्तिद्वारा स्वच्छसङ्घातजा सेवा, अथ च शरीरावयवेन मूर्ध्ना त्वयातिसमीचीना भगवद्भोग्यसामग्री सम्पादनीया सम्पादितेति स्त्रीपुत्रादीनामपि वन्दनजा सेवा च स्वकृतालङ्कारादिष्वपि स्वस्मिन् दासत्वेन तत्तत्सामग्रीसम्पादकत्वात् स्वान्तःस्थितप्रियप्रियतमाभ्यामेव परस्परकृतत्वबुद्ध्या अतिसौन्दर्यावलोकनजनितानन्देन प्रियस्य प्रियायाश्च वा वन्दनजा सेवा, अथ च क्षुधातृषादीनां प्राणधर्मत्वात् चानुभावेन तत्तत्समयानतिक्रमेण सपरिकरे प्रभौ भोजनजलादिसमर्पणेन प्राणजा सेवा, अथ च दास्यसखित्वाभ्यामात्मनिष्ठाभ्यां बहिरङ्गान्तरङ्गसमयेष्वपि सर्वदा प्राणप्रियासहितप्रभुसन्निधौ निःशङ्कगमनसम्पादिता तत्तद्वस्तुसम्पादनजा सेवा, अथ च सङ्घातविशिष्टोहम् मत्सम्बंधिनः सर्वे प्रभुमात्रभोग्याः, नान्यभोग्या इत्यात्मसमर्पणजा सर्वविधा सेवा च भगवत्सुखोद्देशेनैव कृतत्वादियं तनुजा मुख्यसेवा। स्वधर्मत्वमात्रोद्देशेन कृता चेदृशी सेवा गौणीतनुजा सेवा ज्ञेया। एवमेव श्रवणकीर्तनस्मरणजा सेवापि द्विविधा, मुख्या गौणी च। तत्र मद्धृदिस्थः सपरिकरः प्रभुः स्वप्रियतमभक्तविशिष्टलीलाश्रवणेनानन्दातिशयमनुभवतामिति प्रतिबुध्य श्रवणजा सेवा मुख्या। स्वेतरभक्तहृदिस्थो मत्प्रभुस्तादृशलीलाकीर्तनेनानन्दातिशयमनुभवतामिति प्रतिबुध्य तत्तल्लीलागोपनाय तादृशलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणजा सेवा मुख्या। भगवत्सुखमात्रोद्देशेनैव कृतत्वात्। स्वधर्ममात्रोद्देशेन कृता तु श्रवणकीर्तनस्मरणजा गौणीत्युच्यते। अत्राद्या सर्वविधापि सेवा शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया तु मर्यादापुष्टिमार्गीयाणामिति ज्ञेयम्। एवं च श्रवणादिजाया अपि सेवायाः श्रोत्रवागिन्द्रियान्तःकरणसाध्यत्वात्तनुजसेवायामन्तर्भाव इति श्रवणादिजसेवादिकमेवेति। न त्वदुक्त्यवकाश इति दिक्।

एवं चित्तजापि द्विविधा । मुख्या गौणी च । तत्र स्वार्जितसर्वविधसर्ववित्तेन परिकरविशिष्टप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा मुख्या । वित्तजा सेवा स्वार्जितद्रव्यस्य शास्त्रोक्तविभागं कृत्वा विभागागतभगवद्द्रव्येण तादृशप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा गौणी वित्तजा सेवा । अत्राप्याद्या शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया मर्यादापुष्टिमार्गीयाणां ज्ञेया ।

स्यादेतत् । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुत्या भगवत ईदृशत्वेन जीवानां सहजदासत्वेन दास्येन सेवा कर्तुं शक्या । सख्यात्मसमर्पणयोस्तु भगवदङ्गीकारसाध्यत्वात् सख्यात्मसमर्पणाभ्यां निःशङ्कतया जीवेन स्वयं सेवा कर्तुमशक्येति चेत् । अत्र वदामः । 'स नो बन्धुर्जनिता संविधाते'ति 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युत'मिति तैत्तरीयोपनिषच्छ्रुतिभ्याम् 'भर्ता संभ्रियमाणो बिभर्ति' 'एको देवो बहुधा निविष्ट'इति श्रुतिभ्यां 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाये' ति मुण्डकोपनिषच्छ्रुत्या च 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादिभगवद्गीतावाक्येभ्यः । 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टमि'ति तृतीयस्कन्धीयवाक्येन । 'सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् । तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा । सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाये'त्याद्येकादशस्कन्धीयपिङ्गलावाक्यैश्च । 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् । सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः' इत्यादि तत्रत्यभगवद्वाक्यैश्च सर्वविधबन्धुत्वसखित्वपतित्वप्रभुत्वभर्तृत्वदेवत्वमातृत्वपितृत्वपितामहत्वधातृत्वविधातृत्वगतित्वसाक्षित्वनिवासत्वशरणत्वसुहृत्त्वोपदेष्टृत्वानुमन्तृत्वभोक्तृत्वप्रियत्वात्मत्वसुतत्वगुरुत्वेष्टत्वप्रेष्ठतमत्वरमणत्ववित्तरतिदातृत्वादिधर्मा भगवति प्रतिपाद्यन्ते । ते च धर्मा भगवद्धर्मत्वात् नित्याः । नित्यधर्मवत्त्वं च तदैव घटते, यदि तत्प्रतियोगिनो धर्माः सर्वविधबन्धुत्वसखित्वदासत्वसेवकत्वपोष्यत्वाराधकत्वपुत्रत्वपौत्रादिकत्वाधेयत्वविधेयत्वप्राप्तियोग्यत्वद्वितीयत्ववास्तव्यत्वदीनत्वसुहृत्त्वोपदेश्यत्वमन्तृत्वभोग्यत्वासक्तत्वपितृत्वशिष्यत्वेष्टत्वपरमासक्तत्वरत्याकाङ्क्षितत्वार्थित्वरत्याविष्टादयो जीवेषु नित्या भवन्ति । एवं च पूर्वोक्तनित्यसिद्धधर्माणां भगवति सत्त्वाज्जीवेष्वेते धर्मा नित्या निरुद्धा इति भगवति सखित्वभोक्तृत्वयोः सत्त्वाज्जीवेष्वपि सखित्वभोग्यत्वयोरपि सत्त्वात्तयोश्च नामनिवेदनाभ्यामाविर्भावितत्वाद्भगवदङ्गीकारस्यापि सत्त्वान्निःशङ्कतया सख्यात्मसर्पणसेवासिद्धिरिति बुध्यस्व । तथा च यतः सर्वविधोपि सम्बन्धो जीवानां भगवता सह वर्तते, अतएव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहमि'ति भगवता गीतायां येन केनापि प्रकारेण प्रपन्नस्यापि फलदानमुक्तम् । न चैवं भगवतो जीवैः सह सर्वविधे सम्बन्धे सति भगवान् स्त्री अहं पुरुष इति भावेनापि भजनं प्रसज्येतेति वाच्यम् । 'पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपुत्रवन्मित्रवद्धरिम् । ये भजन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योपीह नमोनमः । नारी वा पुरुषो

वापि भर्तृभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः । येषामहं प्रियतम आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् । पिताहमस्य जगतो धाता माता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादि नारायणव्यूहस्तवीयबृहद्वामनपुराणीयश्रीभागवतीयश्रीभगवद्गीतादिस्थवचननिचयेषु त्वदुन्नीतभावेन भजनस्यानुक्तत्वात् । 'यावद्वचनं हि वाचनिक'मिति न्यायात् । एतादृशभाववद्भक्तस्याश्रुतत्वाच्च । एवं सति स्वयमेवैतादृशभावेन भजने 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति वचनेन दोष आपद्यते । एवं च 'ये यथा मामि'ति श्लोकस्यापि येजीवाः शास्त्रोक्तभजनप्रकारेषु 'यथा येन प्रकारेण प्रपद्यन्ते तांस्तेनैव उक्तप्रकारानुकूलप्रकारेणाहं भजामी'त्यर्थो बोध्यः । न तु येनकेनचित्प्रकारेणेति । किञ्च । श्रीभागवतेपि 'कोटिकन्दर्पलावण्यः साक्षान्मन्मथमन्मथः पुरुषोत्तम' इत्येव नामोक्तं प्रभुस्वरूपेण, न तु कोटिरतिलावण्यः स्त्र्युत्तम इत्यादि । तथा च तादृङ्नामतादृक्स्वरूपयोः श्रवणे दर्शने च सर्वेषां स्वस्मिन् स्त्रीभावोदय एव भवति, न तु स्वस्मिन्पुरुषभावोदय इति । अत एवोक्तं श्रीमदस्मत्प्रभुभिः त्रिभङ्गललितस्तवे 'एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव ही'ति । अत्र दर्शनपदं श्रवणादीनामप्युपलक्षकम् । इयदवधि एतच्छ्रोतॄणामपि साक्षात्कर्तॄणामिव प्रमदाभावोदयस्यैव दृश्यमानत्वात् । यद्वा । दर्शनपदं चाक्षुषादिज्ञानमात्रपरं बोध्यम् । यदि च भगवता सच्चिदानन्दरूपात्युत्तमस्त्रीरूपेणाविर्भूय कस्यापि पुरुषभाव उत्पादितः स्यात् तदा स्त्र्युत्तम इति कोटिरतिलावण्य इति नामापि युक्तं स्यात् । मोहिनीरूपं तु 'इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरि' रिति । 'यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोस्यङ्ग मायये'त्यादिश्रीभागवतीयवाक्यैर्भगवन्मायारूप एव, न तु सच्चिदानन्दरूपम् । आवेशमात्रं तु भगवत इत्यवतारमध्ये गणना । जीवानां नारदादीनामिव । न वा तद्रूपमपि केनचित्स्वस्मिन्पुरुषभावेन मोहिन्यां च स्त्रीभावेनोपासितमिति । तस्माच्छिष्टाचाराभावादप्यस्मदुक्तमेव साधु । यत्पुनः 'स वै न रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स ह एतावानास । स पतिः पत्नी चाभवतामि'ति श्रुतौ यत्पत्नीरूपं भगवतः श्रूयते, तत्तु सपत्नीत्वेनैव प्रकटितमिति तस्य प्रभुपत्नीरूपत्वेन भजनं शिष्टमेव । पूर्वोक्तविरुद्धभावेन भजनं तु भजनभावप्रकारेषु शास्त्रेनुक्तमिति न कर्तव्यमेव । अन्यथा द्वेषभयादिविरुद्धभावेन फलप्रदनेनाप्युक्तं स्यात् । एवं जीवैः सह भगवतः सर्वसम्बन्धसम्बन्धे नित्यसिद्धे स्थिते भगवतो यत्सम्बन्धपुरस्कारेण जीवेषु रिंसा स सम्बन्ध एवाविरुद्धान्यभावसम्बन्धाविर्भावविशिष्ट आविर्भवति, न तु विरुद्धसम्बन्धाविर्भावविशिष्टः, साक्षाद्भोग्यत्वसम्बन्धे भर्तृत्वादिसम्बन्ध इवेति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तविचारेण । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वोक्ता सर्वविधापि सेवा प्रेम्णा क्रियमाणफलरूपा । केवलं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यपरम्परोपदेशमात्रेणैव

विना प्रेम कृता नित्यसिद्धभक्तिवृद्ध्याविर्भावसाधनरूपा ज्ञेया । तथापि साधनत्वबुद्ध्या न कर्तव्या । साधनत्वबुद्ध्या करणे तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'ति वाक्यात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति स्वप्रतिज्ञातश्च प्रेमाद्युत्पाद्य 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मिति पुरुषोत्तमज्ञानमुत्पाद्य स्वप्रवेशरूपमुक्तिरूपफलमेव मर्यादाभक्तिमार्गीयं भगवान् दद्यात् । न तु सर्वदा साक्षात्स्वसम्बन्धरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयं फलम्, साधनबुद्ध्या कृतनवविधभक्तेः प्रेमोत्पादनद्वारा प्रवेशपर्यवसायित्वात् । फलरूपत्वबुद्ध्या करणे तु प्रेमासक्तिव्यसनान्युत्पाद्य स्वसेवामेव स्वप्रवेशरूपफलादप्युत्तमां दद्यात् । तस्मात् फलत्वबुद्ध्यैव शुद्धपुष्टिमार्गे सेवा कर्तव्येति । 'सार्ष्टिसामीप्ये'त्यादि'सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रित्यादिवाक्यैः सेवायाः सर्वोत्तमफलत्वं प्रसिद्धमेव । इदमेव ज्ञापयितुं फलात्मकनामोक्तम् । वस्तुतस्त्वाचार्यमार्गीयस्याचार्यपक्षपातेन प्रवेशरूपं फलं साधनबुद्ध्या करणेपि न भविष्यति, तथापि भगवत एतस्मिन्विषये सङ्कोचो भविष्यतीति फलात्मकनामोक्त्या फलत्वबुद्ध्यैव सेवा कर्तव्येत्युपदिष्टं श्रीमदाचार्यचरणैरिति बोध्यमिति दिक् । ननु भगवानेकदैव प्रेमादिवक्ष्यमाणावस्थाविर्भावं कुतो न करोति, वा क्रमेण करोतीति चेत् । क्रमेणाविर्भावे रसाधिक्यानुभवस्यानुभवसिद्धत्वाद्रसाधिक्यानुभवार्थमेवेति गृहाणेति सर्वं निष्प्रत्यूहम् । प्रकृतमनुसरामः ।

ननु'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' । 'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते । तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च' 'याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभय' इत्यादिश्रीगीताश्रीभागवतीयभगवद्वाक्येभ्यो लौकिकवैदिकत्यागपूर्वककेवलदासभावेन चेद्भजेत्तदा कथं भजेदित्याकाङ्क्षायां सार्धश्लोकेनाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ २ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

पूर्वोक्तभगवद्वचनबलेन पुत्रकलत्राद्यौदासीन्यं बहिर्मुखजनितनिन्दां चाविगणय्य लौकिकवैदिकगृहस्थधर्मतो व्यावृत्तोपि निवृत्तोपि 'उदासीने स्वयं कुर्या'दिति सिद्धान्तात्स्वयमेव दासधर्मत्वाद्यथाशक्ति सेवां विधाय सदा हरौ सकलदुःखहर्तरि चित्तं न्यसेत् । तत्स्मरणं कुर्यात्, अथ च श्रवणादौ श्रवणकीर्तनयोरपि चित्तं न्यसेत् स्थापयेत् । न त्वेतेभ्योपि निवृत्तो भवेदिति भावः । अत्र चित्तपदं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । यद्वा हराविति विषये सप्तमी । हरिविषयकं चित्तं श्रवणादौ श्रवणकीर्तनस्मरणेषु न्यसेत् । यद्वा ।

हराविति निमित्ते सप्तमी । चर्मणि द्वीपिनं हन्तीत्यत्रेव । तथा च हरिनिमित्तं श्रवणादौ श्रवणकीर्तनेषु चित्तं न्यसेत् । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वश्लोके श्रवणादिभिरित्यत्राप्रधानतृतीयाव्याख्यानपक्षे तृतीयया श्रवणादीनां सेवासमयातिरिक्तसमये कर्तव्यत्वादप्राधान्यं यथा बोधितं तथा तस्मिन् श्लोके श्रवणादीनां सदापदेन सर्वदा कर्तव्यत्वस्य बोधितत्वेन पूर्वश्लोकानुवर्तमानायाः गृहे स्थित्वा सेवायाः किञ्चित्समय एव कर्तव्यत्वस्य आगतत्वात्, अथ च पुत्रकलत्रादीनां स्वधर्मत्यागजनितौदासीन्येनासहायत्वात्पूर्णसेवानिर्वाहाभावाच्च स* प्राधान्यं बोध्यत इति । अयं तु गौणपक्षः । लौकिकवैदिकगृहस्थव्यावृत्तिं विनानुत्तमसेवकत्वसंपालया(?)दिति बोध्यम् । अस्मिन्पक्षे पूर्णफलप्राप्तिस्तु गुणश्रवणादिसन्तुष्टान्तरङ्गभक्तकृपया ज्ञेया । अत्र यतेत । यतेत् इति पाठस्तु लेखकप्रमादमूलक एव । न चाध्याहारः । चित्तपदोत्तरं विधायेति क्रियावान् क····नध्याहारेणार्थकरणे चित्तपदस्य वैयर्थ्यापाताच्चेति सुधीभिरेवाकलनीयम् । एतत्पाठस्य व्याख्यानं यथा श्रीमदस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातं तथैव व्याख्यानं मन्मतेपि बोध्यम् । अस्मिन् पक्षेऽनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यं चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादिति यतेदित्यत्र परस्मैपदं साधनीयम् । नन्वेवं भक्तिवृद्धिसाधने क्रियमाणेपि भक्तिवृद्धिरेवैकपदेन स्यादथवा किञ्चिन्मध्येन्यदपि स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः ततः प्रेमेति । तत इति पञ्चमी । ततस्तस्माद्धेतुभूताद्भजनात् प्रेम । यस्य पूर्वावस्थाभावस्तस्य भावस्य तत्तत्फलस्याविर्भावः । तथा तेन सप्रेमभजनरूपप्रकारेण तस्यैव भावस्यासक्तिरूपावस्थाविर्भावात् भवेत् । च पुनर्व्यसनम् । 'दैहिकान् सकलान् भावान् निजां क्रीडां च दैहिकीम् । परित्यज्य हरिप्राप्तिर्यदैव स्यात्तदैव तत्' इति श्रीभागवततत्त्वदीपीयभागवतरूपप्रकरणस्थदशमस्कन्धे सकलदैहिकं भावं दैहिकलज्जात्यागपूर्वकं हरिप्राप्त्यै सर्वव्रतादिकमासक्त्यै क्रियते तदेव तद्व्यसनमित्युक्तत्वात्तादृशं व्यसनम् । अथ च तदनन्तरमपि प्रभुसम्बन्धाभावे प्रतिकायरूपं च व्यसनं यदा भवेदाविर्भवेत् । अत्र यदेति पदं व्यसनाविर्भावस्य कालनियमाभावं ज्ञापयति । तथा च यदा भगवदिच्छया व्यसनमाविर्भवेत् तदा दृढं बीजमुच्यत इत्यग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः । व्यसनपदस्याप्रतिकार्यदुःखपरत्वेन च व्याख्यानं तु 'व्यसनं स्वमवोचते'ति दशमस्कन्धप्रथमाध्यायसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः कृतं तत्रैवावलोकनीयम् । ननु तदा किं भवेदित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजमिति । तदा तद्भावावस्थाविशेषरूपं व्यसनं शास्त्रे भक्तिशास्त्रे दृढं बीजमित्युच्यते । यद्दृढं बीजमपि पुनः न नश्यति तिरोभावं न प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेन प्रेमासक्त्योर्भगवदनुकूले गृहे तदनुकूलत्वे तत्त्यागेन तत्पैरस्तदीयैः सह स्थित्या च कदाचिदन्यव्यासङ्गे तत्क्षणे तिरोभावो भवेदपि बीजस्य । व्यसने जाते तु सर्वेषामेव त्यागात् व्यासङ्गान्तरोत्पत्तेः सम्भावनाभाव एवेति तस्य दृढबीजत्वं निरन्तरं निखिलावस्थाविर्भावेन फलप्रापकत्वमिति ज्ञेयम् ।

ननु प्रेमासक्तिव्यसनानां परमावस्थाविशेषत्वेनान्तरधर्मत्वाद्बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात् पर-

* त्रुटितमस्ति.

निष्ठस्य मनसा ज्ञातुमशक्यत्वात् केन लिङ्गेनेदं प्रेमेयमासक्तिरिदं व्यसनमिति ज्ञायतामित्या-
शंक्य तत्कार्यमेव तल्लिङ्गमिति सार्धश्लोकेनाहुः **स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यादि ।**

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

स्नेहाद्धेतोः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति गृहारुचेरग्रे वक्ष्यमाणत्वात् सेवोपयोगि-
स्वगृहस्वपुत्रतादृशान्यव्यतिरिक्तेषु रागस्य, 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु ।
गान्धारादौ नृपे राग' इति विश्वात् प्रेम्णो भगवद्विषयकविशेषेण नाशः तिरोभावः स्यात् ।
स्वस्त्रीस्वपुत्रतदन्येषु सेवोपयोगिषु तु तिष्ठत्येव । अत्र नाशे विशेषकथनात्प्रेमाविर्भावात्पू-
र्वं कृतभजने इतरत्र कदाचिद्रागो भवति । प्रेमाविर्भावोत्तरं तु न भवत्येवेति ज्ञेयम् ।
तथा च भगवत्सम्बन्ध्यतिरिक्ते तु रागाभावः प्रेमलिङ्गमिति ज्ञेयम् । अथ गृहारुचिः ।
स्वगृहेपि स्वगृहस्थपुत्रादिपदार्थेषु सर्वेष्वप्यरुचिः तत्सम्बन्धानिच्छा स्यात् । तेषां भगव-
दनुकूलत्वात्सेवोपयोगित्वेपि प्रेमासक्त्यभावात्सेवासमयातिरिक्तसमये गृहव्यासङ्गजनक-
त्वात् । यदि गृहव्यासङ्गं न जनयेयुस्तदा त्वरुचिर्न भवत्येवेति भावः । तथा च स्वगृह-
स्थानां गृहव्यासङ्गजनकत्व एव गृहारुचिरासक्तिलिङ्गम् । तेषां गृहव्यासङ्गजनकत्वे
तु पूर्वदशाभ्यधिकसेवाश्रवणादिरुचिरेवासक्तिलिङ्गं ज्ञेयम् । अथ व्यासङ्गलिङ्गमाहुः
गृहस्थानामिति । अत्र प्रेमासक्तेः सेवानुकूलाः स्वगृहस्थाः पुत्रभार्यादयो यदि लौकिक-
व्यासङ्गं न जनयेयुस्तदा प्राप्तासक्तिना स्वगृहस्य भगवति निवेदितत्वेन हरिस्थानत्वात्स्व-
गृहस्थानां सर्वदा भगवत्सेवाकथानिष्ठत्वेन तत्परं भगवदीयत्वात् लौकिकव्यासङ्गाजनकत्वेन
स्वप्रतिबन्धकत्वाभावाच्च स्वगृहस्थितौ बाधकत्वाभावात्स्वगृहमध्य एवासत्प्रभुवद्दृढबीजसि-
द्ध्यर्थं स्थेयम् । यदि तु तादृशस्वगृहस्था लौकिकव्यासङ्गं जनयेयुस्तदा तेषां बाधकत्वा-
त्स्वगृहं त्यक्त्वा तत्परभगवदीयैः सह दृढबीजसिद्ध्यर्थं सेवाकथाश्रवणादिविषयकयत्नं
कुर्वतान्यहरिस्थाने स्थेयमिति पक्षद्वयम् । तत्र यस्मिन् पक्षे त्वासक्त्युत्पत्त्यनन्तरं बाधका-
भावात्स्वगृहस्थितस्यैव व्यसनं जातं, तस्मिन्पक्षे स्वगृहस्थानां तत्परभगवदीयत्वात्तैर्गुण-
गाने क्रियमाणे तच्छ्रवणेन प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशाभावाद्भगवत्प्रादुर्भा-
वात्तापक्लेशजनितपूर्वभगवत्प्राकट्यस्यापि गतत्वाच्चान्तःप्रकटभगवत्सम्बन्धानन्दविघातक-
त्वादेते मम भगवत्सम्बन्धानन्दविशेषविघातका इति स्वगृहस्थेषु तादृशान्यगृहस्थेषु च
बाधकत्वभानं भवति । द्वितीयपक्षे त्वासक्त्युत्पत्त्यनन्तरं स्वगृहस्थास्तु त्यक्ता एव लौकि-
कव्यासङ्गजनकत्वात्, स्थितं च हरिस्थाने तत्परभगवदीयैः सह, तेषामपि भगवद्गुणगानपर-
त्वात्, पूर्वोक्तप्रकारेण प्राप्तव्यसनस्य तेष्वपि बाधकत्वभानं भवति, अतो गृहस्थानामिति

पदं सर्वगृहस्थपरम् । न तु स्वगृहस्थमात्रपरमिति बोध्यम् । तथा च गृहे तिष्ठन्ति ते
गृहस्थास्तेषां बाधकत्वं तत्सम्बन्धिविरहानुभवान्तर्गतभगवदनुभवबाधकत्वं पूर्वोक्तप्र-
कारेण प्राप्तव्यसनस्य भासते स्फुरतीत्यर्थः । न च स्वगृहरूपहरिस्थानस्थान्यहरिस्थानस्थ-
गृहस्थानां भगवदीयत्वेन भगवद्गुणगाने क्रियमाणे प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशा-
भावाद्भगवदाविर्भावाभावे पूर्वसञ्जातभगवत्प्राकट्यतिरोभावे भवद्भिर्भगवद्गुणा न गेया इति
प्राप्तव्यसनेनोक्ते यस्माद्भजनप्रतिबन्धक इति प्राप्तव्यसनसम्बन्धिबाधकत्वं भासते । स्फुर-
तीति चार्थः । इदमर्थद्वयमप्यत्राभिप्रेतं श्रीमदाचार्याणाम्, परस्य न बाधकज्ञानेन दृढ-
तरपरित्यागाय गृहस्थपदं भगवदीयानां ब्रह्मचारिवानप्रस्थसंन्यासिनामप्युपलक्षकम् । एतत्कृ-
तगुणगानश्रवणजस्वास्थ्यजनितभगवदाविर्भावाभावपूर्वकं प्रकटभगवत्तिरोभावाभ्यां पूर्वव्या-
ख्याने ब्रह्मचर्यादिसम्बन्धिबाधकत्वभानं प्राप्तव्यसनस्य, द्वितीयव्याख्याने प्राप्तसम्बन्धिबा-
धकत्वभानं ब्रह्मचर्यादीनामपि जायत इति भगवदीयब्रह्मचर्यादयोपि सङ्ग्राह्या एवेति । अतएव
श्रीमदाचार्यकृतव्यसनोत्तरपरित्यागे स्वपरगृहस्थाद्यारभ्य अन्नजलादिपर्यन्तमपि त्यागो दृष्टः ।
अत एव विरहानुभवार्थस्त्यागः परितस्त्यागरूप इति संन्यासनिर्णये परित्यागशब्देनैवोक्तः ।
अत एव तादृशबाधकत्वज्ञानोत्तरमेव 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्या-
सनिर्णयोक्तः परित्यागः स भविष्यति । यदि प्राप्तव्यसनस्य सर्वप्रकारकपूर्वोक्तभगवदीयगृ-
हस्थादिषु भगवदीयगृहस्थादीनां प्राप्तव्यसने सर्वथा बाधकत्वभानं न भवेत्, तदा सर्व-
परित्यागोपि दुःशकः कथं भवेदेवेति ज्ञेयम् । ननु पूर्वोक्तगृहस्थेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्य-
सने च तेषां बाधकत्वज्ञानेपि प्राप्तव्यसनस्य भगवत्यासक्तौ जातायां भगवति यथात्मात्मीय-
त्वं भातं तथा भगवत्सम्बन्धेन भगवदीयेष्वपि पूर्वोक्तेषु पूर्वोक्तभगवदीयानां च प्राप्तव्यसने
भासत एव । एवं च परस्परं दृढतरात्मत्वात्मीयत्वाध्यासस्य विद्यमानत्वात् महारोगाद्युपद्रु-
तदेहादिषु यथा लौकिकालौकिकार्थबाधकत्वज्ञानेपि तैर्दृढतराध्यासात्तत्त्यागः कर्तुं न शक्यते,
तथा पूर्वोक्तसर्वभगवदीयत्यागोपि प्राप्तव्यसनेन प्राप्तव्यसनस्य च त्यागस्तैः कर्तुं न शक्यते
इत्याशंक्याहुः **अनात्मत्वं च भासत** इति । आत्मशब्दस्य देहात्मनोर्वाचकत्वात्
तेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्यसने च तेषामनात्मत्वमात्मात्मीयभिन्नत्वं स्वहितकारित्वाभाव इति
यावत् । तच्च भासते । यद्येते मद्धितकारिणो भवेयुस्तदा यथान्तःप्रकटीभूयात्मात्मीय इति
भगवान् स्वदर्शनदानादिना हितं करोति, तथैतेपि कुर्युः, न तु भगवद्दर्शनादिनाशम् । अतो
नैते ममात्मात्मीया इति प्राप्तव्यसनस्य पूर्वोक्तेषु यद्ययमस्मद्धितकारी स्यात्तदास्मद्भजनप्र-
तिबन्धं न कुर्यात्, अतो नायमस्मदात्मात्मीय इति प्राप्तव्यसनपूर्वोक्तगृहस्थादीनां च
बाधकत्वभानात् सुखेन **परित्यागः** सेत्स्यतीति भावः । तथा च परस्परविषयकं
बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च परित्यागे कारणं बोद्धव्यम् । ननु तादृशं बाधकत्व-
मनात्मत्वं च कदा भासत इत्याकांक्षायामाहुः **यदा स्याद्व्यसनं कृष्ण** इति । यदा क-

दाचिद्भगवदिच्छया कृष्णे कृष्णनिमित्तं कृष्णविषये वा भागवततत्त्वदीपीयदशमस्कन्धोक्तव्यसनोत्तराप्रतिकार्यं दुःखं तदा पूर्वोक्तं भासत इति ज्ञेयम् । तदैवाप्रतिकार्यदुःखे जाते एव भक्तः कृतार्थः प्राप्तफलः स्यात् । हि युक्तोयमर्थः । अप्रतिकार्यदुःखे जाते परमस्नेही भगवान् साक्षात्स्वसम्बन्धे कथं विलम्बं कुर्यादिति जानीहि । अत्रैतावज्ज्ञेयम् । येषामलौकिकं शरीरं तेषां तु रासमण्डलमण्डनानामिव व्यसने जाते तेनैव देहेन फलप्राप्तिः । येषां त्वन्तर्गतानामिव लौकिकं शरीरं तेषां तु व्यसनेन देहपातः । तदनन्तरं अलौकिकदेहप्राप्त्या फलप्राप्तिरिति दिक् । तथा च गृहस्थविषयकं प्राप्तव्यसनस्य गृहस्थानां वा प्राप्तव्यसनविषयकमुभयोर्वोभयविषयकत्वं बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च व्यसनलिङ्गं ज्ञेयम् । एतैर्लिङ्गैः प्रेमासक्तिव्यसनानि ज्ञातव्यानीति भावः ।

अथ जातव्यसनस्य गृहस्थपदार्थविषयकबाधकत्वानात्मज्ञानयोरवश्यंभावित्वेन संन्यासनिर्णयोक्तः परित्यागः स्वयमेव भविष्यतीति नोपदेशो योग्यः,अप्राप्तव्यसनस्य प्राप्तासक्तेर्भक्तस्य तु गृहारुचेर्जातत्वेपि तेषां भगवत्सेवोपयोगित्वेन भगवत्सम्बन्धित्वात् त्यागो मत्सम्बन्धिन एतस्मै न रोचत इति भगवन्मनस्यागते ममापराधः स्यादिति भिया तत्त्यागं न कुर्यात्, तदा तेषां पोष्यत्वादात्मपोषणार्थं सेवासमयातिरिक्तसमये व्यासङ्गान्तरमुत्पाद्य एतैरिति तत्त्याग उपदिश्यते । न च तेषां भगवदीयत्वात् तत्त्यागे अपराधः प्रसज्येतेति वाच्यम् । एते लौकिके मां योजयन्तीति लौकिकधर्मपुरस्कारेण दोषारोपपूर्वकत्यागेपराधप्रसक्तेरभावात् । भगवदीया एते मया त्याज्या इति भगवत्सम्बन्धपुरस्कारेणैव तेषु दोषारोपेण त्यागापराधप्रसक्तेरिति त्वत्पूर्वपक्षाभावादिति मनसिकृत्य प्राप्तासक्तेर्गृहत्यागमुपदिशन्तः सुदृढसर्वतोधिकपरमभक्तिलाभं च सार्धश्लोकेनाहुः **तादृशस्यापीति** ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

सततं सर्वदा तादृशस्यापि प्राप्तासक्तित्वात् गृहासक्तियुक्तस्यापि आभासोक्तभगवदपराधभिया गृहमत्यजतो गेहे स्थानमवस्थानं विनाशकं मध्ये मध्ये लौकिकव्यासङ्गजनकत्वेन भगवद्भजनविषयकयत्ननाशकम्, अतस्तादृशानां मध्ये गृहादिमात्रत्यागं कृत्वा यः भाग्यवांस्तदर्थार्थैकमानसः । स चासौ भगवानेवार्थो वस्तुरूपोर्थः प्रयोजनं यस्येदृशः सन् यतेत्, भगवत्प्राप्त्यर्थं यत्नं कुर्यात्, स सुदृढां भक्तिं लभते इत्युत्तरेणान्वयः । नन्वस्मिन्पद्येयं त्यागो व्यसनोत्तरसामयिकसंन्यासनिर्णयोक्तत्यागत्वेनैव कुतो नोच्यत इति चेत्। अत्र वदामः। अप्रतिकार्यदुःखरूपव्यसनोत्तरत्यागस्य स्वयमेव जायमानत्वेन उपदेशानर्थक्यम् । किञ्च, यत्र व्यसनोत्तरत्यागे व्यसने जाते तत्प्रतिकारो भगवदतिरिक्तेन न कर्तुं शक्यत इत्येवोच्यते ।

तदा 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्ण' इत्यव्यवहितपूर्वं व्यसनमुक्तमिति ईदृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकमित्यत्र प्रत्यक्षपदार्थवाचिइदमः प्रयोग एव कृतः स्यात्, न तु परोक्षपदार्थवाचितादृशस्यापीति तच्छब्दप्रयोग इति । अपरञ्च, 'व्यसनं यदा भवेत्''बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यती' त्यनेन व्यसने जाते भावात्मकबीजस्य नाशाभाव एवोक्तः। अत्र तु 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक'मित्यनेन नाश उच्यते । तस्मादपि नायं त्यागशब्दः संन्यासनिर्णयोक्तत्यागपरः, किन्तु प्राप्तासक्तिमात्रस्यैव लौकिककार्यव्यासङ्गजनकत्वेन पुत्रकलत्रादित्यागपर एवेति सुष्ठु प्रतिभाति । अत एवाग्रे त्यागोत्तरं 'अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परै'रिति तत्परतदीयसङ्ग उपदिष्टः । यद्यप्येतेपि तदीयास्तथापि तेषां स्वेन पोष्यतासम्बन्धयुक्तत्वात् स्वपोषार्थं लौकिकव्यासङ्गजनकत्वाभाव इति तत्सहभावेन स्थितिरुपदिश्यत इति । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति विरहानुभवार्थत्यागे भगवदीयाभगवदीयसकलत्यागवाचकः परित्यागशब्दः प्रयुक्तः, अत्र तु लौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागोऽलौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागश्चोक्त इति परित्यागत्वाभावादपि न संन्यासनिर्णयोक्तोयं त्याग उपदिष्ट इति भगवदीयैः सहृदयैः परिभावनीयमिति दिक् ।

नन्वेवं प्राप्तासक्तिर्गृहत्यागं कृत्वा हरिस्थाने स्थितस्तदीयसहतया चेत् भगवद्विषयकं यत्नं कुर्यात् तदा को लाभः स्याद् इत्यकांक्षायामाहुः **लभत** इति । स भक्तः सुदृढां केनापि नाशयितुमशक्यां भक्तिं स्नेहरूपां व्यसनविशिष्टत्वेन सुदृढां बीजस्वरूपां लभते प्राप्नोतीत्यर्थः । नन्वेतादृशी भक्तिरन्यदेवविषयिण्यपि भवतीत्याशंक्य आहुः **सर्वतोभ्यधिकाम्** विभूतिरूपभक्तिभ्योप्यधिकां पुरुषोत्तमविषयत्वादिति भावः । अथ च सर्वविधभक्तिभ्यः परां चरमावधिभूतां पुरुषोत्तमसाक्षात्सङ्गकारणभूतामिति यावत् । यद्वा । परां परमकाष्ठापन्नाम् । एतेनान्ये संप्रदायत्रयभक्तिमार्गास्तदुक्तभक्तिप्रकारास्तदुपास्यस्वरूपाणि तदाचार्याश्च न परमकाष्ठापन्नाः । 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति वाक्यात् । 'तद्धत्त्वांगतयोन्तत' इति वाक्याच्च शुद्धपुष्टिमार्गः, तदुक्ता भक्तिः, तदुपास्यस्वरूपं, तदाचार्याश्च परमकाष्ठापन्ना इति ज्ञेयम् । तथा चैतन्मार्गैतदुक्तभक्त्यैतन्मार्गोपास्यस्वरूप एतन्मार्गाचार्यप्राप्तौ सत्यां सर्वं प्राप्तं किमपि नावशिष्यते प्राप्तव्यमित्येतेषां सर्वेषां फलरूपत्वम् । यतो वेदविभागाष्टादशपुराणधर्मब्रह्मजिज्ञासामहाभारतादिकरणेनापि श्रीमन्नारायणावताररूपाणां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादेऽजाते नारदोपदेशेन प्रेमात्मकसमाधावाशुकृते चित्तप्रसादे जाते तत्रानुभूतपूर्णपुरुषोत्तमादिपदार्थग्रथितसमाधिभाषारूपश्रीभागवतकरणम्, अतो ज्ञायते श्रीभागवतोक्तं स्वरूपम्, तत्प्राप्तिका भक्तिः, तदाचार्याः, श्रीमद्व्रजभक्तादयः, तदनुगता विष्णुस्वाम्यादिश्रीमद्वल्लभाचार्यान्ताश्च, तत्प्रकटितो भक्तिमार्गश्चैतत्सर्वं परमकाष्ठापन्नत्वात्फलरूपमिति भावः ।

अथैतादृशत्यागकर्त्रा त्यागं कृत्वैकान्ते गन्तव्यमेवाथवा किञ्चिदन्यदपि कर्तव्यमित्याकांक्षायां गृहमात्रमेव त्यक्त्वा हरिस्थाने 'तदीयैः सह स्थेय'मिति सार्धश्लोकेनोपदिशन्ति **त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति** ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

त्यागे बाधकानां भूयस्त्वं बाहुल्यं वर्तते । ननु कस्माद्धेतोर्दुर्बाधकबाहुल्यमित्याकांक्षायाहुः **दुःसंसर्गात्तथान्नत** इति । देहाद्यध्यासस्यानिवृत्तत्वाद्यत्र कुत्रापि स्थितौ सङ्गे प्राप्ते दुष्टसङ्गो बहिर्मुखसङ्गोपि भवति । तथा देहपोषार्थं दुष्टान्नभक्षणं च प्रसजते । तदा दुःसङ्गाद्दुष्टान्नतश्च बाह्याभ्यन्तरदोषोत्पत्तेर्भजनादिष्वालस्ये सम्पन्ने कृतोपि गृहत्यागो व्यर्थः स्यात् । तर्हि तेन किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः **अतः स्थेयं हरेः स्थाने तदीयैः सह तत्परैरिति** । अतः कारणाद्धरेः सर्वविधदोषहर्तुः स्थाने शुद्धपुष्टिस्थाने वृन्दावनादौ तत्परैः रात्रिंदिनं भगवत्सेवादिपरैः सह तदीयैः शुद्धपुष्टिमार्गीयदासधर्मवद्भिः सह स्थेयम् । तथा च तत्सङ्गेन दुःसङ्गाभावात्तत्समर्पितभगवत्प्रसादान्नभक्षणात्तद्दत्तस्वसमर्पितान्नभक्षणाच्च बाह्याभ्यन्तरदोषाभावाद्भजनसिद्धिर्निष्प्रत्यूहा भवति । प्राप्तासक्तेरिति भावः । एतेनाप्ययं त्यागो न व्यसनोत्तरसामयिकः संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागः । यतो व्यसनोत्तरत्यागे भगवदीयेष्वपि बाधकत्वज्ञानादनात्मत्वज्ञानाच्च सर्वत्यागादन्नादित्यागोपीति क्व दुःसंसर्गान्नादिजनितदोषप्राप्तिसंभावनापीति सुधीभिराकलनीयम् । अत एव श्रीमदस्मदाचार्यचरणकृतव्यसनोत्तरत्यागेनशनकाशीगमनादिकमपि दृष्टम् । अन्यथा तैर्हरिस्थाने व्रजादावेव गतं स्यात् । भगवदीयान्नादिकमपि गृहीतं स्यात् । तत्तु न कृतमिति संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागो न साधनदशात्यागो येन हरिस्थाने गमनं स्यात्, तदन्नभक्षणं च प्रसजेत, किन्तु फलदशाजनितस्त्यागः फलजनित एव । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति विरहानुभवार्थपरित्यागस्य प्रशस्तत्वमेवानूदितम् । ननु 'विरहानुभवार्थं तु त्यागः कर्तव्य एव ही'ति तस्यावश्यकर्तव्यत्वमुक्तम् । जीवकृत्यसाध्यत्वात् । तस्मादस्मदुक्त एवाशक्तिदशात्यागोयमिति ज्ञेयम् । ननु हरिस्थानस्थतत्परतदीयानामपि स्वासक्तिसमानासमानासक्तेः सत्त्वे तु दोषाभावः सिध्यत्येव, स्वसमानासक्तेरभावे तु तेषामपि सेवाव्यतिरिक्तसमये कदाचिल्लौकिकव्यासङ्गजनकत्वे का गतिरित्याशंक्याहुः **अदूरे विप्रकर्षे** वेति । यदि तेषां स्वसमानासमानासक्तिस्तदा तद्दत्तान्नमेकान्ते भक्षयित्वा तेषामदूरे निकटे स्थेयम् । अदूरमिति पाठे अदूरं यथा भवति तथा स्थेयम् । यदि पूर्वोक्तं न तदा तेभ्यः प्राप्तं भगवत्प्रसादान्नं तद्दत्तस्वसमर्पितान्नं च भक्षयित्वा विप्रकर्षे दूरे स्थेयम् । यथा येन प्रकारेण चित्तं न दूषयति तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्विदमत्यशक्यं, यतोस्मिन् कलिकाले हरिस्थानानामपि दुष्टाक्रान्तत्वात् प्रतिष्ठादिकामुकत्वेन तत्परभगवदीयानामपि दुर्लभत्वाच्च प्राप्तासक्तेः का गतिरित्याशंक्याहुः **सेवायां वा कथायां वेति** ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य भक्तस्य पूर्वोक्तसेवायां कथायां कथाश्रवणकीर्तनयोर्वा आसक्तिर्दृढा बद्धमूला भवेत्, तस्य यावज्जीवं यावद्देहस्थिति व्यसनं यदा कदापि भवतु, परंतु दुःसङ्गदुष्टान्नभक्षणजनितो नाशो भगवत्सेवाकथाद्यासक्तिप्रच्युतत्वं क्वापि देशे क्वापि काले च क्वापि जन्मन्यपि च न भवतीति मे मम मतिर्बुद्धिरित्यर्थः । तथा च यदि भगवद्धर्मरूपसेवाकथासक्तस्यैव न नाशस्तदा साक्षाद्धर्मरूपभगवदासक्तस्य न नाश इत्यत्र किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायः सूचितः । यद्वा । नाशः दुःसङ्गदुष्टान्नजनितदोषसम्बन्धरूपः न क्वापि संभवतीत्यर्थः । तथा च दुष्टाक्रान्ते हरिस्थाने दुष्टाक्रान्तहरिस्थानातिरिक्ते स्थाने वा तिष्ठन् तत्परभगवदीयेभ्यस्तदितरजनेभ्यश्च भिक्षया जीवनमात्रसंपादकमन्नं संपाद्य स्वयं पाकं कृत्वा प्रभवे समर्प्य भक्षयन् न दोषभाक् भवतीति भावः ॥ ९ ॥

ननु यदि हरिस्थानातिरिक्ते हरिस्थाने वा दुष्टाक्रान्ते दुष्टैर्भजनबाधः, अथ च तत्रान्नादेरप्यलाभेन वा भजनबाधः प्रसज्येत, तदा किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः **बाधसंभावनायां त्विति** ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यदि सेवायाः कथाश्रवणादीनां वा बाधः संभाव्येत ज्ञायेत, तदा एकान्ते गृहं त्यक्त्वा स्वीयाज्ञाते स्थले वासो नेष्यते, किन्तु गृहे एव वास इष्यते । ननु तदा गृहस्थानां पुत्रकलत्रादीनां लौकिकव्यासङ्गान्तरजनकत्वं सिद्धमेवेति दोषप्रसक्तिरिति किं कर्तव्यमित्याशंक्याहुः **हरिस्तु सर्वत** इति । तु पुनः हरिः सर्वदुःखहर्ता सर्वतः सर्वेभ्यो दोषेभ्यः स्वयं रक्षां करिष्यति । गृहस्थपुत्रकलत्रादिजनितलौकिकव्यासङ्गान्तरदोषो न बाधिष्यत्येवेतिभावः । अत एव 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति श्रीभागवते भगवतोक्तम् । ननु को वेद, हरिः प्रभुः करोति चेत्, तस्य किं कर्तव्यमित्याशंक्याहुः **न संशय** इति । न सन्देह इत्यर्थः । यदि स्वीयरक्षां न कुर्यात्तदा हरित्वमेव गच्छेदिति भावः ॥ १० ॥

एवं भक्तिवृद्धिप्रकारमुपपाद्य ग्रन्थोपसंहारमेतत्पाठफलं चाहुः ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति ग्रन्थसमाप्तौ । एवं अनेन प्रकारेण च भगवच्छास्त्रं उत्तरपदलोपिसमासात् भगवत्प्रापकं शास्त्रं भगवत्प्रापकोपदेशग्रन्थः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तम्, इतरमार्गीयेभ्यस्तत्त्वसिद्धान्तो यस्य तादृशं निरूपितं कथितम् । मयेति शेषः । अत्रैतदुक्तप्रकारेण सेवायाः कथाश्रवणकीर्तनादीनां च कर्तुः प्रेमाद्याविर्भावो भवेदिति किमाश्चर्यम्, यत्रैतच्छास्त्राध्ययनकर्तुरपि प्रेमाद्याविर्भवेदित्याहुः **य एतदिति**, योधिकारी कोपि एतत् समधीयीत, सम्यक् श्रद्धापूर्वकमनुसन्धानपूर्वकं वाध्ययनं कुर्यात् तस्यापि दृढा केनापि तिरोधापयितुमशक्या रतिर्बीजरूपभावरूपा स्यादाविर्भवेत्, किं पुनरेतदुक्तप्रकारकभजनकर्तुरिति दिक् ।

श्रीमद्वल्लभविठ्ठलभगवच्चरणाब्जरेणुकणकृपया ।
कृतवान् जयगोपालष्टीकां श्रीभक्तिवर्धिन्याः ॥ १ ॥
मूर्ध्न्यञ्जलिं ननु विधाय निधाय भूयो भूयः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि ।
यत्किञ्चिदत्र मयका लिखितं भवद्भिस्तत्पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविठ्ठलेश्वरकृपाकटाक्षोद्बुद्धबुद्धिना श्रीमच्चिन्तामणिदीक्षितात्मजेन जयगोपालेन विरचिता भक्तिवर्धिनी टीका ॥

श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ।

भक्तिवर्धिनी ।

दीक्षितलाल्लूभट्टकृतविवृतिसमेता ।

नमामि श्रीमदाचार्यान् विठ्ठलेशांश्च मत्प्रभून् ।
यत्कृपातो भवेत्प्राप्तिः (श्री)गोवर्धनगिरीशितुः ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः पुष्टिभक्तानां नित्यलीलाप्रवेशाख्यस्वमार्गीयफलप्राप्त्यर्थं तत्कारणभूतां बीजभावात्मिकां तापात्मकसूक्ष्मस्नेहरूपां भक्तिं वर्धयितुं तत्प्रकारनिरूपणं प्रतिजानते **यथा भक्तिरित्यादिना** ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्बीजभावरूपा प्रकर्षेण वृद्धा सर्वात्मभावावस्थापन्ना स्यात्त**थोपायः** त्यागात्यागविभेदेन श्रवणादिरूपः पूजादिरूपश्च निरूप्यते इत्यर्थः । इह

भक्तेर्वृद्ध्युपायकथनप्रतिज्ञया भक्तिसत्ता सूचिता । अतो बीजरूपा पुष्टिभक्तिः पूर्वं पुष्टिजीवेषु सूक्ष्मरूपेण वर्तत एवेति बोध्यम् । अन्यथा यथा भक्तिरुत्पन्ना स्यादिति प्रतिज्ञायेत । उत्पन्नाया एव वृद्ध्यादिभावार्हत्वात् । अतः पूर्वं पुष्टिभक्तेः सूक्ष्मरूपेण सत्ता ज्ञापिता । सैव पुष्टिभक्तिर्बीजभावशब्देनोच्यते । इयमेतद्ग्रन्थोदितप्रकारेण वृद्धा सती सर्वात्मभावावस्थां प्राप्य नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलं साधयिष्यतीति सिद्धान्तनिष्कर्षः । **बीजभावे** इति । बीजरूपे भावे सूक्ष्मभक्त्यात्मके दृढे सति स्यात्, भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः । बीजभावदार्ढ्यं कथं स्यादित्याकांक्षायामाहुः **त्यागात् श्रवणकीर्तनादिति** । गृहादित्यागपूर्वकं भगवत्कथाश्रवणाद्बीजदार्ढ्यं भवतीत्यर्थः । गृहादेर्विषयासक्तिसम्पादकतया भजनप्रतिबन्धकत्वेन गृहादित्यागो भजने मुख्यमङ्गम् । 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत' इति प्रह्लादवाक्यात् । अत एव निबन्धे भगवदुक्तश्लोकयोरेवं दृश्यते **'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'**मिति ।

एवं मुख्यतया पूर्वं त्यागपक्षमुक्त्वा तादृशजितेन्द्रियत्वादिगुणरहितस्य त्यागे दोषाधिक्याद् बीजदार्ढ्ये प्रकारान्तरमाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः** इत्यनेन ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

गृहे बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्वित्यन्वयः । गृहे बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः **स्थित्वा स्वधर्मत इत्यादिना** । गृहे इति सप्तम्यन्तं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । **स्वधर्मत** इति । वेदोक्तवर्णाश्रमधर्मत इत्यर्थः । तथा च विहितप्रकारेण गृहस्थाश्रमे स्थित्वा भक्तिमार्गप्रकारेण कृष्णं भजेत् । यद्यपि 'अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रत' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् गृहाश्रमस्य फलप्रतिबन्धकत्वम्, तथापि भगवद्भजनं कुर्वाणस्य न गृहस्थाश्रमः प्रतिबन्धकः । 'गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' इति भगवद्वाक्यात् । अस्मिन्वाक्ये 'कुशलकर्मणा'मित्यनेन निषिद्धानां निवृत्तिः सूचिता । कुशलकर्मणामित्यस्य व्याख्यारूपं स्वधर्मत इति पदमाचार्यवर्यैरुक्तम् । अत एव भगवता द्वितीयोऽत्यागात्मापि पक्षः सफलो निरूपितः 'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ।' इति । **अव्यावृत्त** इति । 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति वाक्याद्भगवान् गृहस्थाश्रमनिर्वाहकं धनादिपदार्थं स्वत एव सम्पादयिष्यतीति विश्वासेन धनाद्यर्जनाभिनिवेशं त्यक्त्वा श्रीकृष्णं निरन्तरं भजेदित्यर्थः । कथं भजेदित्याकांक्षायामाहुः **पूजया श्रवणादिभिरिति** । **पूजयेति** । मन्दिरमार्जनादिरूपया परिचर्ययेत्यर्थः । **श्रवणादिभिरिति** । श्रीमद्भागवतोक्तदशविधलीलायुक्तस्य भगवतः श्रवणादिभिरित्यर्थः । 'तस्मा-

द्वारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभय'मिति शुकवाक्यात् । 'दशविधलीलायुक्तस्य श्रवणादि कार्य'मिति सुबोधिन्यां निर्णीतत्वात् । दशविधलीलास्तु भागवते प्रतिपादिता इति भागवतं श्रवणादिविषयीकार्यमिति फलितम् । एवं सति सेवां विधाय तदनवसरे भागवतश्रवणादि कार्यमिति विभागोवगन्तव्यः । एवं वर्तमानस्य गृहेपि संसारावेशाभावात् बीजदार्ढ्यं भवति । ततो भक्तिर्वर्धिष्यते इति भावः । ननु यस्य भक्तिः सूक्ष्मावस्थारूपस्य बीजभावस्य सर्वात्मभावान्तावस्था भवतीत्युक्तम्, कोसौ बीजभावः ? कदा कुत उत्पद्यते इति चेत् । शृणु । सृष्ट्यादौ 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति श्रुतेरक्षरब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नानां चिदंशानां भगवदिच्छया तिरोहितानन्दत्वेन प्राप्तजीवभावानां - भगवदिच्छयैवाविद्यासम्बन्धः । ततो देहाध्यासादिस्वरूपविस्मरणान्तानि पञ्चपर्वाणि सम्पद्यन्ते । ततस्तेषु जीवेषु सदसद्वासनाभेदेन दैवत्वमासुरत्वं विदधाति भगवान् । तत्र दैवजीवेषु यान् पुष्टिमार्गीयान् कर्तुमिच्छति, तेषु स्वविषयकां सूक्ष्मरूपां रतिं स्थापयति । सा बीजभावशब्दवाच्या । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति वाक्यात् कारणत्वेन बीजत्वात् । सा रतिः प्रेमासक्तिव्यसनसर्वात्मभावानां बीजरूपेति बीजभावशब्देन व्यवह्रियते । एवमत्यागपक्षे व्यावृत्तिराहित्येन भगवद्भजनं मुख्यः पक्षः ॥ २ ॥

तदसम्भवे गौणं पक्षमाहुः **व्यावृत्तोपीति** ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

भगवत्सेवानवसरे व्यावृत्तिं कुर्वाणोपीत्यर्थः । **श्रवणादाविति** । 'श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्चे'त्यत्र उक्ता ये श्रवणादयस्तैर्भजेदित्यर्थः । व्यावृत्त्यवसरे पूजाया असंभवात् श्रवणादिमात्रमत्रोक्तम् । अव्यावृत्तस्य तूभयं संभवतीति पूजया श्रवणादिभिरित्यनेनोभयमुक्तम् । **ततः प्रेमेत्यादि** । एवं भगवन्तं भजतः प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण भवन्ति । सूक्ष्मभक्तिर्बीजभावरूपा पूजाश्रवणादिभिः प्रवृद्धा प्रेमासक्तिव्यसनावस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः । **बीजं तदुच्यत** इति । व्यसनावस्थायां सिद्धायां बीजभावस्य दार्ढ्यं संपन्नमिति बोध्यम् । **नापि नश्यतीति** । न तिरोभवतीत्यर्थः । सत्प्रतियोगिनोऽभावस्य तिरोभावानतिरेकात् । अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति सुबोधिन्यां निर्णीतत्वात् ॥

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

प्रेमावस्थायाः कार्यलक्षणमाहुः **स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति** । आसक्तेः कार्यलक्षणमाहुः **आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति** । गृहपदं गृहस्थानामुपलक्षणम् । **अरुचिरिति** । नात्रारुचिशब्देन रुच्यभावः । तस्य स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यनेन पूर्वं स्नेहकार्यत्वेनोक्तत्वात् । अतोत्रारुचिशब्देन रुचिविरुद्धो भावः । विरोधार्थे नञः स्मरणात् । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिता' इति वाक्यात् । स च बाधकत्वस्फूर्तिरूप इति स्वयमेव व्याचक्षते **गृहस्थानां बाधकत्वमिति** । तथा च भगवदितरविषयकबाधकत्वस्फूर्तिसंपादको भाव आसक्तिरिति कार्यलक्षणमासक्तेः । आसक्तेर्लक्षणान्तरमाहुः **अनात्मत्वं च भासत** इति । देहस्येति शेषः । तथा च देहात्मभावनिवर्तको भगवद्भाव आसक्तिरिति लक्षणान्तरमासक्तेः । **यदा स्याद्व्यसनमित्यादि** । **व्यसनमिति** । विशेषेण अस्यते क्षिप्यते दूरीक्रियते अन्यसम्बन्धो येन तद्व्यसनं भगवत्यात्मभाव इति यावत् । एवं भगवत्यात्मभावो निरुपाधिकस्नेहो व्यसनमिति फलितम् । अत एव 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति व्यसनभाववतीभिर्भगवत्यात्मत्वमभाणि । 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति श्रुतेरात्मसम्बन्धादेवान्यस्य प्रियत्वं लोके, एवं व्रजसुन्दरीणां भगवत्सम्बन्धादेव स्वदेहादौ प्रीतिविषयत्वम् । अत एव 'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत' इत्युक्तं ताभिः । 'त्वदर्थं प्राणधारण'मित्याशयो विवृतः श्रीमदाचार्यवर्यैः । अतस्तादृशो निरुपधिभावो व्यसनशब्दार्थः । अत एतादृशे व्यसनात्मके भावे सिद्धे युक्तैव कृतार्थतेति बोधयितुं **यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हीति** हिशब्द उक्तः । **कृतार्थ इति** । भगवन्तं साक्षात्करोतीत्यर्थः । भगवन्मूर्तिं परिचरतो जातव्यसनाख्यभावस्य भगवत्साक्षात्कारो भवेत्, तदानेकप्रकारकं भगवदाज्ञादिजन्यं सुखविशेषमनुभवेद्, अतः कृतार्थता सिध्यतीति बोध्यम् ।

एवं भगवदाविर्भावेन लीलावलोकनादिरूपं भगवत्सम्बन्धिसंयोगसुखमनुभवतोपि भगवद्विरहजन्यविलक्षणसुखानुभवराहित्यान्न पूर्णफलप्राप्तिः, अतो द्वितीयदलानुभवार्थं साधनमाहुस्**तादृशस्यापीत्यारभ्य त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस** इत्यन्तेन ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

तादृशस्येति । प्राप्तव्यसनभावस्येत्यर्थः । **गेहस्थानं विनाशकमिति** । गेहे स्थितौ हि भगवत्सेवया भगवदाविर्भावेन संयोगानुभवसिद्धौ न वियोगानुभवो भवेत्, अतः फलपूर्णतायां गृहस्थितेः प्रतिबन्धकत्वाद्विनाशकतोक्ता । अतो 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयग्रन्थोक्तं त्यागमुपदिशन्ति **त्यागं कृत्वा**

यतेदिति । यतोयं विलक्षणस्त्यागोत एव तदर्थार्थैकमानस इति विशेषणमुक्तम् । स चासौ अर्थः तदर्थः 'पुरुषार्थरूपो भगवान्' तदर्थं तत्प्रयोजनकमेव मानसं यस्येति विग्रहः । पुष्टिमार्गे हि भगवानेव पुरुषार्थः । 'त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मे'ति दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिणीवाक्यात् । 'तावांस्तेहं चतुर्विध' इत्येकादशस्कन्धे श्रीमदुद्धवं प्रति भगवद्वाक्याच्च । तथा च भगवदर्थमयं त्यागो विरहे सर्वदा अन्तर्भगवत्स्फुरणार्थः । न तु 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यनेनोक्तोयं त्यागः । तत्र तु 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूप'मिति वाक्यात्पातहेतुत्वं गृहस्थितेः, अतो गृहत्याग उक्तः । स त्यागस्तु 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्यनेन पूर्वमुक्तः । अयं त्यागस्तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यत्रोक्तप्रकारेण वर्णाश्रमधर्मतः स्थितस्य पूजाश्रवणादिना व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं विहितः । अतोस्मिन् त्यागे प्राप्तव्यसनभावोधिकारी । 'तादृशस्यापि सतत'मित्यत्र तादृशशब्देन 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे' इत्यनेन पूर्वमुक्तस्य व्यसनभाववतः परामर्शात् । अतोयं त्यागो विरहानुभवार्थं एवेति निर्धारः ।

एतादृक्त्यागकर्तुः फलमाहुः **लभते सुदृढां भक्तिमिति** ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

सर्वतोप्यधिकामिति । **सर्वतः** प्रेमासक्तिव्यसनतोधिकामित्यर्थः । **परां** सर्वात्मभावरूपामित्यर्थः । वियोगे हि सर्वात्मभावो भवतीति तृतीयाध्यायभाष्ये निरूपितम् । तदत्रापि व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं कृतत्यागस्य भगवद्विरहानुभवक्लेशजन्यभगवत्सम्बन्धार्त्या सर्वत्र भगवानेव स्फुरतीति सर्वात्मभावसिद्धौ न किञ्चित् कर्तव्यमवशिष्यत इति बोध्यम् । एवं गृहस्थितिपक्षे भक्तिवृद्ध्युपायं निरूप्य 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दिति पूर्वमुपदिष्टे त्यागे बाधकाभावं साधयितुं बाधकस्वरूपनिरूपणपूर्वकं त्यागप्रकारमाहुः **त्यागे इति** । **त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिना** कामादिषट्कजन्यानां बाधकानां भूयस्त्वमित्यर्थः । **दुःसंसर्गादिति** । 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदु'रिति वाक्यात् । जीवे हि कामादिदोषाः सदैव तिष्ठन्ति । 'भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सह षट्सपत्न' इति वाक्यात् । तथा च दुःसङ्गदुरन्नाभ्यां तस्य कामादिषट्कस्योद्बोधे तज्जन्यानां बाधकानां बाहुल्यं स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥

अतःपरं बाधकहेतुकामादयो येन निवर्तन्ते तं उपायमाहुः **अतः स्थेयमिति** ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

हरिस्थाने गोवर्धनादौ, तत्रापि तदीयैः तत्परैः सह स्थेयम् । 'स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृत'मिति वाक्यात् । एवं गृहस्थितिगृहत्यागपक्षौ सप्रकारं निरूप्य अन्यतर-

साधनावस्थापन्नस्य पक्षद्वये अनुगतं मुख्यसाधनमाहुः **अदूरे विप्रकर्षे वेति** । भगवत इति शेषः । गृहस्थितिपक्षे श्रीविग्रहस्य अदूरे निकटे, त्यागपक्षे श्रीमूर्तेर्विप्रकर्षे दूरे स्थितावपि चित्तदोषो यथा न भवेत्तथा स्थेयमित्युपदेशः । 'चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये' इति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात्, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'रिति वाक्यान्तराच्च चित्तस्यैव सर्वत्र मुख्या कारणतेति तस्मिन्दोषोत्पत्तौ सर्वनाश इति चित्तस्य निर्दोषतायै दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं सत्सङ्गादि सम्पाद्य सावधानतया स्थेयमिति भावः ॥ ८ ॥

कथं चित्तं निर्दुष्टं स्यादित्याकांक्षायां पूर्वोक्तमुपायं स्मारयन्ति **सेवायां वा कथायां वेति** ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

गृहस्थितिपक्षे सेवायाम्, त्यागपक्षे कथायाम्, यस्यासक्तिर्भक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं क्वापि दुर्देशे दुष्टकालेपि नाशो बुद्धिभ्रंशरूपो न भवेत् । अन्यथा चित्तदोषे विषयध्यानात् 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यती'त्यन्तेन निरूपितो नाशः स्यादिति भावः ॥ ९ ॥

ननु कृतत्यागस्य भगवदीयसङ्गादप्येकान्ते स्थितिरेव समीचीना, भजनप्रतिबन्धदुःसङ्गसंभावनाया अप्यभावादित्याकांक्षायामाहुः **बाधसंभावनायां त्विति** ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यद्यप्येकान्ते दुःसङ्गादिदोषो नास्ति, तथापि व्याघ्रादिभयरूपबाधसंभावना यत्रास्ति, तत्र वासो न इष्यते, न इष्टप्रापको, मनसश्चाञ्चल्यापादकत्वेन भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः । ननु सर्वरक्षको भगवान् व्याघ्रादिभ्यो भक्तान् कथं न रक्षतीत्याकांक्षायामाहुः **हरिस्त्विति** । 'रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्ना'निति वाक्यात् सर्वथैव भगवान् रक्षति, तथापि तादृग्विश्वासाभावेन मनश्चाञ्चल्यं स्यादेव, ततो भजने प्रतिबन्धो भवेत् । अतस्त्यागपक्षे हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ भगवदीयैः सह स्थितिरेव श्रेयस्कारिणी । 'संसारेस्मिन्क्षणार्धोपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणा'मिति भागवतवाक्यादिति भावः । अपि च एकान्ते स्थितौ हि रक्षणार्थं भगवति भारो देयः । स च स्नेहविरुद्धः । हरिस्थाने भगवदीयैः सह सङ्गे तु सोपि दोषो नास्तीति त्यागपक्षे भगवत्स्थाने भगवदीयैः सह स्थित्वा भगवद्भजनं कार्यम् । तेन च प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्ति । ततो भगवदाविर्भावः । ततो

लीलावलोकनादिसिद्धिः । ततो भगवद्दत्तविरहेण सर्वात्मभावः । तेन नित्यलीलाप्रवेश इति सुगमः पन्था आर्याणाम् ।

श्रीमद्विट्ठलनाथाङ्घ्रिरजःसम्बन्धभागिने । बालकृष्णो मम स्वामी मह्यं भक्तिं प्रयच्छतु ॥१॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लाल्लू-भट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमगमत् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

विवृतिसमेता ।

भक्तिकल्पलताबीजस्थायिभावात्मने स्वतः ।
पुष्टिजीवहृदिस्थाय श्रीमद्भगवते नमः ॥ १ ॥
भक्तिकल्पलतोत्पत्तिवृद्धिदोहददायकान् ।
नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभून् दीनानुकम्पिनः ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणैः स्वमार्गीयाणां ब्रह्मसंबन्धकरणानन्तरं दासधर्मत्वात् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये' त्युक्तम्, सा च 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति, तस्याश्च मानस्याः फलरूपता, तत्साधनं च तनुवित्तजेति सिद्धान्तमुक्तावल्यां सामान्यतो निरूपितम् । तत्र प्रकारजिज्ञासायां विशिष्य वक्तुं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

भक्तिरनुद्भूता स्थायिभावात्मिका बीजरूपा पुष्टिमार्गीया भगवद्विषयिणी रतिर्या तापक्लेशपदेन निवेदनमन्त्रे निर्दिष्टा, अत एव साधनदशायां तदभिव्यक्त्यभावात् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति अवश्यकर्तव्यतोक्ता । प्रेमाङ्कुरेभिव्यक्ते कर्तव्यता नोच्येत, तत्स्वभावादेव कार्येनुप्रवृत्तेः । 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'त्यभिव्यक्तस्वरूपनिर्देशः । तदर्थमेव च 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे'ति निरूपितम् । सा यथा प्रकर्षमभिव्यक्तिं प्राप्य प्रेमरूपेणाङ्कुरभावमासाद्य चेतस्तत्प्रवणरूपा भूत्वा तेनैव तथात्वनियमात् । क्रमेणासक्तिव्यसनाभ्यां बद्धमूला

१ अन्तिमश्लोको न विवृत इति प्रतिभाति ।

दृढा सती वृद्धिमवाप्य 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युत्तरोत्तरसंकल्पैर्निद्राच्छेदाद्यनुभावयन्ती मानसी फलरूपा स्यात् तथोपायो निरूप्यत इत्यर्थः ।

तत्राधिकारी द्विविधः, अदृढबीजभावो दृढबीजभावश्च । द्वैविध्ये बीजं भक्तिहंसे निरूपितम् । 'वरणे चास्ति प्रकारद्वयम्, मर्यादापुष्टिभेदेने'ति । तत्र प्रथमं द्वितीयस्य कर्तव्यमाहुः बीजेति । 'रतिर्देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधीयत' इति बीजभूतो यो भगवद्विषयको रत्यात्मको भावः स्थायिभाव इति यावत् । तेनैव पुष्टिमार्गीयत्वं तेषामुच्यत इति । भगवदनुग्रहादेव तत्सत्त्वादिति यथा तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादायां द्रष्टव्यम् । अत एव 'तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्ये'त्यत्र टिप्पण्यामुक्तं 'एतेन श्रुतं सर्वैः स्थायिभावोत्रैवास्तीत्यत्रैव तदुद्दीपनमिति शङ्का निरस्ते'ति । स भगवदिच्छया अनुग्रहप्राबल्येन दुःसङ्गाद्यनभिभूतोऽत एव दृढो वक्ष्यमाणस्वरूपो यस्यास्ति तस्य तु बाधकगृहादिसर्वत्यागाच्छ्रवणकीर्तनाच्च भक्तिः पूर्वोक्ता प्रवृद्धा फलरूपा स्यात्, तस्य नान्यत् कर्तव्यमस्तीति भावः । श्रवणस्यान्यसापेक्षत्वात् कीर्तनस्यापि तत्साधकत्वज्ञापनाय समस्तं पदमेकवचनं च । अत एवोपसंहारे एतद्ग्रन्थपाठमात्रस्यापि दृढरतिप्रतिपादकत्वं वक्ष्यते । अथवा । समाहारद्वन्द्वः । तेन समुच्चयस्यैव हेतुत्वमिति समास एकत्वं च । बीजभावे दृढ इति सतिसप्तमी । तुशब्द इतरव्यावर्तकः ॥ १ ॥

प्रथमस्य साधनान्तरमाहुः ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, 'सार्वविभक्तिकस्तसिल्', दासधर्मेण ममायमेव धर्मः, एतदकरणे सर्वस्वहानिरेवेति स्वतन्त्रपुरुषार्थबुद्ध्या इतरव्यावृत्तिरहितः कृष्णं सदानन्दं सेवेत । पूजया भक्त्या । 'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् । परिचर्यां सदा कुर्याद्वस्त्रप्रक्षालनादिभिः । अलंकुर्वीत सप्रेम वस्त्राभरणैरपि' इत्यादिस्वारस्यात् स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधेरनतिक्रमाय पूजापदम् । विधिप्रधानत्वात् तस्याः । अत एव भक्तिहंसेपि तथैवोक्तं प्रभुचरणैः 'स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव नियामक' इति । स चात्र श्रीमदाचार्यनिर्दिष्ट एव, न तु तान्त्रिक इति ज्ञेयम् । स च 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् । श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरा'दिति वाक्यात् तदनुसार्येवेति हृदयम् । साक्षात् श्रीमदङ्गसेवानवसरे श्रवणादिकं विधेयम् । 'सप्रेमे'ति सर्वत्रानुषज्यते । वक्तुरभावे स्वयमेव कीर्तनम् । आदिपदात् स्मरणं च सर्वदा । पादसेवनमित्युपलक्षणम् । वस्तुतस्तु भगवत्स्वरूपसेवनमेव तत् । यद्यपि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो'रित्यत्र श्रवणादित्रयानन्तरं पादसेवनमुक्तम् । तत्र मर्यादायां भगवद्विमुखस्य विषयासक्तस्य गुरूपदेशमात्रेण भजनमिच्छतः प्रथमप्रवृत्तौ माहात्म्यज्ञानेन श्रवणेन्द्रियमनोदोषनिवृत्त्या शुद्धिसंपादनेन

'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः। भगवत्सेवने योग्या नान्य' इति वाक्यात् साक्षात् भगवत्सेवने अधिकारसिद्ध्यर्थं प्रथमत एव श्रवणं, कीर्तनं स्मरणमित्युक्त्वा अग्रे पादसेवनमुच्यते । अत्र तु भगवदाज्ञया श्रीमदाचार्यैरादावेव सर्वसमर्पणेन ब्रह्मसंबन्धकरणात् तेनैव सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकसेवाधिकारो जात इति स क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम्। तदुक्तं 'ब्रह्मसंबन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि' इति सिद्धान्तरहस्ये साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुरिति। नवरत्ने चेयमेवाशङ्का समाहिता । तथा च अरुणोदयात् प्रागुत्थाय स्वयं स्नानादिकं विधाय भगवन्मन्दिरे गत्वा मन्दिरपात्रादिसंशोधनं, सिंहासनसंस्कारः, बालभोगसज्जीकरणं, ततः प्रबोधस्तवैः भगवद्बोधनं, शीतादिसमयोचिततूलकञ्चुकप्रावरणादि परिधाप्य, सिंहासने उपवेश्य, बालभोगं समर्प्य, शीताधिक्ये हसन्तीमुपनिधाय, स्नानसामग्रीं सुगन्धतैलतप्तोदकादि अङ्गवस्त्रशृङ्गारवेशोचितवस्त्रालङ्कारादि सर्वमुपस्थाप्य, समये जाते, बालभोगमपनीय, आचमनं मुखवस्त्रताम्बूले समर्प्य, दर्पणं प्रदर्श्य,तत्सामयिकशोभामवलोकयन् मङ्गलनीराजनां कुर्यात् । एवं स्नानशृङ्गारमारभ्य श्रीमदाचार्यनिर्दिष्टप्रकारेण शृङ्गारभोगगोपीवल्लभगोपालराजभोगोत्थापनसन्ध्याशयनपर्यन्तं यथायथं परिचरणमेव पादसेवनमित्यर्थः ।अर्चनं च पूजनम् । तद्धि पूज्ये उत्कर्षख्यापकम्, सर्वोत्कृष्ट एव पूज्यो भवतीति । प्रकृते च पूज्यो भगवान् पुरुषोत्तमः, तत्रापि श्रीयशोदोत्सङ्गलालितः, तत्रापि कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीगोपीजनवल्लभः, तत्रापि श्रीवल्लभाचार्यहृदयसर्वस्वरूपः, तत्र च श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहपक्षपातेन स्वरचितशृङ्गारादिपरिष्कारप्रकाशमानं शोभातिशयविशेषमङ्गीकारसूचकमवधार्य परमोत्साहभरेण विवशतया सूर्ये दीपदानमिव धूपदीपनैवेद्यताम्बूलागुरुसारादिसुगन्धपुष्पमालादिभिरभ्यर्च्य एतादृशे स्वसर्वस्वरूपे कस्यापि दृष्टिदोषसंक्रमो माभूदिति परमप्रेम्णा नीराजनां सर्वदोषनिवृत्त्या 'निःशेषेण राजयती'ति व्युत्पत्त्या अपूर्वशोभाप्रकाशिकां नीराजनां कुर्यादित्यर्चनम् । ततश्च परिक्रमणेन स्वात्मानमपि प्रभोरुपरि निर्मञ्छ्य परमाणुना मया किं कर्तुं शक्यमिति परमदैन्येन दण्डवत्साष्टाङ्गं प्रणमेदिति वन्दनम् । ततो दास्यं शय्यादिरचना । तत्र चाधिशयाने प्रभौ व्यजनचरणसंवाहनादि च । ततो मुकुलितनयने प्रभावनवसरं विधाय श्रीमत्प्रभुप्रसादीकृतपुष्पमालादिभिश्चर्चितः परमाह्लादपूर्णो भगवन्मन्दिराद्बहिरुपेत्य 'उच्छिष्टभोजिनो दासाः' इति वाक्यात् साक्षादधरामृतकरम्बितं बाह्याभ्यन्तरशोधकं परमसौभाग्यसंपादकं महाप्रसादं सेवकादिभ्यो विभज्य सेवेत । ततश्च क्षणं विश्रम्योत्थाय वस्त्राभरणादिसेवया तदभावे तादृशैः कृतात्मनिवेदिभिः समानशीलव्यसनैर्भगवदीयैः शक्तितात्पर्यावधारणपूर्वकं श्रीभागवतसुबोधिन्यादिश्रवणम् । तथैव कीर्तनम् । तत्तल्लीलाशोभादीनां स्मरणं च कुर्वाणो यावदुत्थापनं दिनं वेणुगीतोक्तप्रकारेण नयेत् । ततश्चोत्थापने जाते कन्दमूलफलादि तत्तदार्तवं समर्पयेत् । अत्र च पुलिन्दीसौभाग्यं

संभावयेत् । ततो भगवदुत्थापनशङ्खध्वनिवेणुनादोत्थनिजनिजाह्वानाभिधानश्रवणोत्साहसमुद्भूतलाङ्गूलसहर्षहुङ्कारोल्लसितमुखीर्धेनूः पुरस्कृत्य, साक्षिभिर्गोपवृन्दैरनुगीयमानचरितं 'तं गोरजश्छुरिते'त्यादि वर्ण्यमानस्वरूपं भावोद्गारिणीभिर्दृष्टिभिः श्रीमद्व्रजसीमन्तिनीपरितापं परिहरन्तं गोपीदृगुत्सवदृशं व्रजे प्रविशन्तं परिभाव्य, धेनूस्तत्तद्गोष्ठे निवेश्य, निजमन्दिरमलंकुर्वाणं प्रभुं वन्यपुष्पादिभिरलंकृतं पयोमोदकादिभिर्यथालब्धैर्भोगोपचारैरभ्यर्च्य, सान्ध्यनीराजनां विधाय, क्रमेण प्रेम्णा शृङ्गारं बहूकृत्य उन्मज्जनसायन्तनवस्त्रालङ्कारादिभिरलंकृत्य, दुग्धफेनं समर्प्य, यथालाभमिति सर्वत्र ज्ञेयम् । 'यथालब्धोपचारकै'रिति वाक्यात् । 'स्वाद्वन्नमुपलालित'मिति प्रकारकं शयनभोगमुपनीय, ताम्बूलमाल्यादिभिरलंकृत्य, शयननीराजनां कुर्यात् । ततश्च शय्यामधिशयिते प्रभौ नमस्कृत्य, अनवसरं विधाय, बहिर्निःसरेत् । इदमेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजये'दिति । ततो यथोचितं प्रसादादि संसेव्य तादृशैः श्रवणकीर्तनादि कुर्वन् परमानन्दमनुभवन् विश्रमेदिति दास्यं दिङ्मात्रं प्रदर्शितम् । यद्यपि सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव संपद्येते, तथापि 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे' इत्यत्र निवेदनाङ्गीकारचिन्ताऽभावनिरूपणेनैव सख्यसिद्धिरपि निरूपिता । तथापि साधनदशायां निरोधलक्षणोक्तभावनावत् तदनुकूलान्तरङ्गसेवा भावनीया । निवेदनं च ब्रह्मसंबन्धसमये समर्पितानां पदार्थानां यथायथं तत्रैव विनियोगः ॥ २ ॥

सर्वथा व्यावृत्तिराहित्याभावेपि प्रकारमाहुः **व्यावृत्तोपीति** ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं निधायेति व्यावृत्तिसमयेपि 'पानीयहारिणी यद्व'दितिवत् हरावेव चित्तं निधाय व्यावृत्तिं कुर्यादित्यर्थः । अनन्तरं च श्रवणादौ सदा यतेत् । इदमेवाभिप्रेत्योक्तं निबन्धे 'सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये'दिति । एवं सर्वदा भजतः फलमाहुः **तत** इति । एवं भजतः प्रथमं भगवति स्नेहः स्यात्, पूर्वोक्तो बीजभावोऽङ्कुरितः स्यादित्यर्थः । ततः क्रमेणासक्तिर्भवेद्, भगवत्स्वरूपे चक्षूरागो भवेत् । तदाङ्कुरो द्विपत्रितो जात इति ज्ञेयम् । ततश्च क्रमेण व्यसनम् । विशेषेण अस्यन्ते तदितरे सर्वे विषया येन, तं विना स्थातुमशक्तिरिति यावत्, तद्भवेत् । ततश्च सङ्कल्पा उत्तरोत्तरं पल्लवस्थानीया भविष्यन्ति । एवं व्यसने जाते तद्बीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यद्यस्मान्नाशहेतावपि यन्न नश्यति ॥ ३½ ॥

तत्र हेतुभूतं तस्य साधारणं कार्यमाहुः **स्नेहादिति** ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

भगवति स्नेहे जाते गृहादौ तदितरत्र सर्वत्रैव रागो निवर्तते, स्नेहपदार्थस्यैव तथात्वात् । तत्रासक्तौ जातायां गृहादावरुचिर्भवति, तत्प्रीतिजनकं न भवतीत्यर्थः । न केवलमरुचिमात्रम्, किन्तु एते मम बाधका अनात्मीया इति बुद्धिर्जायत इत्याहुः **गृहस्थाना**मिति । सम्बन्धमात्रे षष्ठी । गृहस्थितेषु स्त्रीपुत्रादिषु ममताविषयेषु स्पष्टम् । तदेवमासक्त्या सेवतः यदा कृष्णे फलरूपे व्यसनं तदितरसर्वविषयनिवृत्तिपूर्वकं तं विना स्थातुमशक्तिर्भवेत्, तदा कृतः सम्पादितः अर्थः यदर्थं तनुवित्तजायां प्रवृत्तः बीजदार्ढ्यरूपः पुरुषार्थो येन तादृशः स्यात् । अत एव बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढमिति पूर्वमुक्तम् । एवकारेण अन्यथा तदभावः । तत्सत्त्वेन तत्सिद्धिनिश्चयोपि हिशब्देन सूचितः । एवं बीजभावे दृढे जाते यथा द्वितीयाधिकारिणस्त्यागः श्रवणकीर्तनञ्च साधनमुक्तम्, तदेवास्यापि वक्तुं हेतुमाहुः **तादृशस्यापीति** । गृहादावरुचिमतोपि बाधकत्वस्फूर्तिमतोपि भगवदेकव्यसनवतोपि निरन्तरं गृहस्थितिर्विशेषेण भावनाशिका ।

अत्रायं भावः । 'स्नेहाद्रागविनाशः स्या'दित्यादिना विरागस्योक्तत्वाद् 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुतेरवसरस्य प्राप्तत्वात् त्याग उपदिश्यत इति नानुसन्धेयम् । तस्य ज्ञानमार्गीयत्वात् । प्रकृते च पुष्टिमार्गीये बीजभावे दृढे व्यसनात्मके जाते तस्य च तं विना स्थातुमशक्तिरूपत्वात् विप्रयोग एवानुभावक इति सततं गृहस्थितौ स्वरूपासक्तस्य आसक्त्या, स्वरूपसेवां कुर्वतः, सेवारसावेशेन परमानन्दानुभवेऽस्वास्थ्याभावात् पूर्वोक्तो भावः प्रवृद्धो न स्यात्, 'भगवता सह संलाप' इत्यादि संकल्पा निद्राच्छेदादयश्च दशा न भवेयुः, क्व फलरूपमानसीसेवासंभावनेति विमृश्य 'त्यागं कृत्वे'त्युक्तं श्रीमदाचार्यैरिति तादृशस्यापि सततमित्यादि पदसमभिव्याहारादवगम्यते । अन्यथा सततपदवैयर्थ्यं च । अत एव स्वमार्गीयत्यागस्वरूपमुक्तं सन्न्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं हि परित्यागः प्रशस्यते । स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोत्र न चान्यथे'ति । त्यागे स्वीयानां बन्धकत्वाभावे स वेशोपि न कार्य इत्याशयेन । अतो नायं वैधस्त्याग इति हृदयम् । तस्मिन् वेशस्यापि अङ्गत्वात् । एतद्यथा तथा संन्यासनिर्णये विशेषेण भावनीयम् । अत एव अन्त्याधिकारिणः साधननिरूपणे 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्यार्थिक एव त्याग उक्तः ॥ ५½ ॥

प्रथमस्यापि व्यसने जाते बीजस्य दृढत्वात् तथाधिकारो जात इति तदेव साधनमाहुः **त्यागं कृत्वेति** ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽभ्यधिकां पराम् ।

बाधकत्वाद्गृहादि सर्वं त्यक्त्वा स एव फलरूपमानसीसेवारूपो योर्थः पुरुषार्थः स एवार्थः प्रयोजनं तस्मिन्नेवैकं मुख्यमेकाग्रं वा मानसं मनो यस्य एतादृशः सन् श्रवणकीर्तने यो यतेत् स सर्वतोधिकां मुक्तेरप्यधिकां परां फलरूपां सुदृढां प्रभुणाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । स्वमार्गीयैः सजातीयैरेव श्रवणादिकम्, न तु विजातीयैरन्यमार्गीयैर्वेति धात्वर्थेन ज्ञापितम् ॥ ६½ ॥

त्यागे बाधान्तरमाशङ्क्य परिहरन्ति **त्याग** इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागानन्तरं स्वमार्गीयत्यागस्वरूपाज्ञानात् सजातीयबुद्ध्या अन्यमार्गीयैः त्यागिभिरेव सङ्गो भवेत्, स च दुःसंसर्ग एव, भाववैजात्यात् । तदुक्तसाधनप्रवृत्तौ मार्गाच्च्युतो भविष्यतीत्यर्थः । तथान्नतोपि बाधः । तैः सह सर्वत्र भिक्षया असमर्पितभक्षणेन बाहिर्मुख्यमेव प्रतिदिनमुपचीयेत, दूरतरा भाववृद्धिः । अतस्त्यागं कृत्वा हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ यत्र पूजाप्रवाहः स्यादित्याद्यूह्यम् । तदीयैर्भगवत्संबन्धिभिस्तत्परैः सर्वत्यागपूर्वकसेवाश्रवणकीर्तनपरैर्दृढबीजभावैः सजातीयैः सह स्थेयम् । एतेन दुःसंसर्गदोषो निवारितः । **हरिस्थान** इति । 'वस्त्रप्रक्षालनादिभि'रिति वाक्याद्यथासंभवं सेवापि सूचिता । प्रसादलाभादन्नदोषोपि परिहृतः । स्वमार्गीयश्रवणादिसिद्धिरप्युक्ता । तत्रापि 'अतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन बाधमाशङ्क्य परिहरन्ति **अदूरे विप्रकर्षे** वेति । स्पष्टम् । *निर्गलितार्थमाहुः*, यथा चित्तं न दुष्यति तथा स्थेयमित्यर्थः । वस्तुतस्तु **सेवायामिति**, सेवायां वा कथायां, वा विकल्पे समुच्चये वा, यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं क्वापि भगवत्स्थले अन्यत्र वा, सजातीयेषु इतरेषु वा, तिष्ठतोपि नाशो न भवेदिति मे मतिः । तेन स्वानुभवस्यैव प्रामाण्यमुक्तम् । तथापि 'पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय' इत्याहुः 'बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यत' इति । वस्तुतस्तु 'हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः' । भक्तानां सर्वदुःखहर्ता हरिः, अन्यथा तथात्वमेव न स्यात् । अत एवं

भजने प्रवृत्तस्य सर्वतो रक्षामेव करिष्यति । अत्र संशयो न विधेयः । अत्र विशेषः संन्यासनिर्णये द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

स्पष्टम् । अथाधुनिकेभ्यः कुटुम्बव्यावृत्तिविवशेभ्यः स्वकीयेभ्यो महाकारुणिका वरदानमिव प्रयच्छन्त आहुः **य एत**दिति । सेवाश्रवणाद्यसंभवे य एतद्भक्तिवर्धिनीस्तोत्रं सम्यगर्थावधारणपूर्वकं समधीयीत तस्यापि बीजभावरूपा स्थायिभावात्मिका रतिर्दृढा स्यादित्याशीर्दानम् ॥ ११ ॥

श्रीमदाचार्यकृपया तद्वाचामर्थसङ्गतिः । प्रादुरासीन्मम स्वान्ते तन्मयेत्थं निरूपितम् ॥१॥
न प्रौढ्या साक्षिणस्तत्र त एव प्रभवो यदि । जीवत्वादन्यथा प्रोक्तं क्षमन्तां करुणार्णवाः २

इति श्रीमद्भक्तिवर्धिनीविवृतिः संपूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतटीकासमेता ।

नत्वा स्वाचार्यचरणौ कृपापात्रं यतो हरेः ।
स्मृत्वा गोपीशचरणौ व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥
व्याख्यानरीतिरपरैर्बहुधा विभिन्ना सिद्धान्तरीतिमतिरेव च नान्यथा सा ।
तत्रापि बोधविशदाशयतानुषङ्गादर्थं विशेषमभिधातुमना भवामि ॥ २ ॥
अस्याः कृतेर्मम विनोदहृदा विचारे केचित्परे प्रतिपथीनतया विशन्तु ।
ये तु प्रमेयगतिमेव विभावयन्ति ते भावयन्तु सदयाहृदयाः प्रवीणाः ॥ ३ ॥

इह तावत् श्रीवल्लभाचार्याः स्वप्रकटितपुष्टिमार्गे साधारणकारणत्वाद्ब्रह्मसम्बन्धस्य तत्करणपूर्वमनुगृहीतानां जीवानां स्वमार्गीयालौकिकसाधनातिशयक्रमेण व्यसनावासिद्वारा साक्षाद्भगवत्प्राप्तिरेकैव सर्वेषामिति ज्ञापयितुं भक्तिवर्धिनीनामानं प्रबन्धं व्याचख्युर्**यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्या**दिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिः पुष्टिमार्गीया स्यात् प्रवृद्धा स्वावस्थात्रयापन्ना च स्यात्तथा उपायः साधनं निरूप्यते । विशिष्टविधानमेतत् । अयमर्थः । साधनानि तु प्रमाणचतुष्टये प्रतिपादितानि, परं न तेषां यावत्स्वसाध्यविजातीयार्थहेतुतावधार्यते, तावत्प्रकृतोपयोगीनि भवन्ति । अतस्तद्धेतुप्रकारक उपाय उच्यत इति । यद्वा । उक्तं च साधनजातं विजातीयार्थेषु तत्प्राकरणिकमिति वाक्येनेष्टार्थे विनियुज्यते । न चात्र प्रमाणाभावो न वार्थविरोधः । इतरथा अप्रामाणिकत्वापत्तेः । न चैवं विषयव्यवस्था स्यादिति वाच्यम् । तत्त्वतो विषयद्वैविध्यादेरप्यनंगीकारादिति । श्रीभागवतादौ उक्तान्यपि साधनान्यसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां नार्थहेतवो भवन्तीति ते निवार्याधिकारिविशेषविषयतया तदुपयोगः कथ्यत इति भावः । अत एव तृतीये कपिलेन 'भक्तियोगो बहुविध' इत्यादिना स्वभावगुणतारतम्येन भक्तितारतम्यं व्याख्याय 'अनिमित्ता भागवती'त्यादिना निर्गुणभक्तिरेव स्तूयते । यत्तु कश्चित्प्रमाणचतुष्टये पुष्टिभक्तेस्तत्साधनानां चाभावाद्विजातीयसाधनव्याख्याप्रतिज्ञेत्याह । तन्न । तथा सति पुष्टिभक्तेरप्रामाणिकत्वापत्तेः । प्रकृतग्रन्थसाधनविरोधात् । 'कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त इतीरणात्। सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय' इति प्रभुवाक्यविरोधात् । 'गीतायां स्फुटमतः पुष्टिः प्रतिपाद्यत' इति तद्व्याख्यानं च विरुध्यत इति दिक् । ननु केयं भक्तिर्नाम । न तावदाराध्यत्वेन ज्ञानम् । तथा सति ज्ञानविशेषत्वेनाभेदप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानिनामपि सर्वेषा'मित्यादिषु भेदेनाम्नानात् । न च श्रवणादितत्समुदायाद्यन्यतमत्वम् । तस्य 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'त्यनेन कारणत्वोक्तेः । नापि वा एतेन सेवापि भक्तिः । न च श्रद्धाविशेषः । तस्याः सङ्कल्पात्मकतया निश्चयात्मकतया वा तद्भिन्नभक्तेर्भेदात् । अत एव गुरवः 'श्रद्धातः साधनप्रवृत्तिस्ततः फलं भक्ति'रित्याहुः । एतमेव श्रद्धाभक्त्योर्भेदमादाय 'श्रद्धावन्तो न भक्तास्ते ये स्वधर्मबहिर्मुखाः । सेवास्वधर्मं कुर्वाणा भक्तगोष्ठीविरोचका' इति वदन्ति । यत्तु केचित् श्रद्धासहितसेवाकृतिर्भक्तिरिति प्राहुः । तन्न । सेवाकृतेर्भक्तिसाधकत्वम्, न तु भक्तित्वमिति सिद्धान्तात् । एतेन शमादिपक्षाः प्रत्युक्ता वेदितव्याः । अत्रोच्यते । भगवति निरुपाधि प्रेम भक्तिरिति । न चाप्रसिद्धिः । आत्मनि प्रसिद्धेः । न च माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वस्य प्रधानवाक्यगतत्वादुपाधित्वं शक्यम् । तस्य तत्कारणे सेवायामुपक्षीणत्वात् । अत एव माहात्म्यज्ञानं सेवायामपराधाभावायोपयुज्यते, न तु भक्तिहेतुत्वेनेति श्रीमद्गोकुलनाथचरणाः । नन्वेवं व्रजस्थानां कामाद्युपाधिसत्प्रेमेति चेन्न । तत्र कामाभावात् । तासां जात्यनुरूपभगवद्गुणवर्णनस्य तत्रैव विशदत्वात् । भक्तोचितस्वरूपनिष्ठतया वा तादृशगुणकथनस्यावश्यकत्वमित्यस्य सुवचत्वाच्च । अत एव भक्ताः स्वरूपनिष्ठा एव भवन्ति । न हि तेषां भगवत्स्वरूपातिरिक्तं किञ्चिद्वर्णनीयमस्ति । तदाहुर्गुरुचरणाः 'तदेव हि प्रसिद्धं भग-

वदङ्गीकारो नाम वस्तु यत्कायवाङ्मनसां भगवत्परत्व'मिति । यद्यपि कामानुरूपा क्रिया दृश्यते, परं न कामः । आहुश्चाचार्याः 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' इति । यदपि 'कामाद्द्वेष्यः,' 'कामं क्रोध'मित्यादिकथनं तदपि लोकप्रतीतिसापेक्षं चित्तासङ्गस्तवनम्, न तु साधनताबोधकमिति दिक्। तस्मान्निरुपाधिकं प्रेम भक्तिरिति । सा च द्विधा । आत्ममनोधर्मभेदात् । न चाद्यायां मानाभावः । स्वरूपेण भगवल्लीलाप्रवेशे सङ्घाताभावेन तदसम्भवापत्तेः । अलौकिकसङ्घातस्वीकारे जीवे निराकारताप्रसङ्गात् । अतोन्यथानुपपत्तिरेव मानम् । न वा किञ्चिद्बाधकं पश्यामः । यतः अंशत्वादिवदैश्वर्यादिसमानाधिकरणो धर्मविशेषो भक्तिरिति युक्तमुत्पश्यामः । मनोधर्मरूपा तु श्रवणादिसाद्गुण्योपकृतिमपेक्षते । यावत्तद्वृत्तिमती । तया पुनः साभिव्यक्ता नेशते परोपकारं स्वात्मनि विनाभावविशेषावस्थायां दृष्टान्तीकृतानां भावानुरूपं करणम् । क्रिया हि परतन्त्रा प्रयत्नाभिलाषतो भवति यथा, साप्येवं यतः । अस्ति च नायं प्राणप्रदो धर्मो, विभिद्यन्ते यतो नानाविधा गतयः । गतिसामान्यमपि साक्षादेवेति न नियमः, किन्तु पारंपर्यतयापि, तदविरोधात् । अतो द्विधा भक्तिः । तत्राद्या विधेयताहीना वृद्धिप्रकारमपेक्षते, अतस्तदुच्यते । ननु वक्ष्यमाणसाधनैः सर्वेषां भगवति कुतो न भक्तिर्वर्धेत इति व्यभिचारिशङ्कायामाहुः 'बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'ति । परमादिसृष्टौ भगवतो रमणेच्छातो विस्फुलिङ्गन्यायेन निर्गता जीवाः । तेषां विविधगतितत्साधनानामानुपूर्वीविशिष्टानां सत्त्वासत्त्वे भगवतैव विचारिते । तत्र ये स्वप्राप्तियोग्यतया इच्छाविषयीकृतास्तेषु यत्तादृशेच्छाविषयत्वं स एव बीजभावो नाम । तत्राप्ययं जीवः कतिचिद्दिनानि साक्षान्मत्प्राप्तिसाधनकृद्भूत्वा ततो निवर्त्यान्यगतिसाधनकृत्स्यादिति चेद्भगवता विचारितं, तदा स बीजभावो दृढो न भवति । दृढे तु बीजभावे स्यादुक्तसाधनैः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः । अदृढे तु तस्मिन्न भवेदिति । तदुक्तं गुरुचरणैः 'न हि पदार्थगुणदोषौ वर्णयतोपि पुरुषस्य ब्रह्मादेर्भवन्ति विधेयाः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः केचिदपि न यावद्विशिष्टेच्छाविषयताशालित्वं धर्मस्येति । अतो दृढे तु बीजभावे तथा स्यात् । तत्र साधनमाहुः त्यागादिति । ऐहिकपारलौकिकयावद्वस्तुनस्त्यागो भगवति स्वमार्गीयप्रकारेण सात्मनः समर्पणं । तस्मात् भगवत्प्राप्तीच्छुना प्रथमतो मार्गानुसारेण समर्पणं कर्तव्यम् । मुख्यमिदं साधनं भक्तिवृद्धौ । अत एवैकादशे भगवतोद्धवं प्रत्युक्तम् । 'दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति । अन्यत्र च । 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुमुत्सहे ।' 'मामुद्दिश्य हित्वे'ति तद्व्याख्यानम् । तस्मात्सर्वार्पणं भगवति कर्तव्यम् । तदुत्तरं साधनमाहुः **श्रवणकीर्तनादिति** । समाहारे नपुंसकत्वम् । आत्मसमर्पणानन्तरं निबन्धोक्तलक्षणप्रकारकं गुरुमाश्रित्य यत्रात्मसमर्पणं कृतं तस्य

भगवतः स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपज्ञानार्थं भगवति स्वसम्बन्धज्ञानार्थं च भगवच्छास्त्रं श्रोतव्यम् । तेन सकलसंशयनिवृत्तौ भगवति भक्तिर्दृढा भवति । तदुत्तरं श्रुतस्यार्थस्य संरक्षणार्थं सति श्रोतरि कीर्तनं कर्तव्यम् । अत्र श्रवणकीर्तनयोः समुच्चित्य हेतुत्वम्, न तु पार्थक्येन । न च यत्र श्रवणमेव साक्षात्कारकं तत्र व्यभिचारः । तत्र कीर्तनस्मरणजनितार्थस्य जन्मान्तरीयतया सिद्धेः । भगवदनुग्रहो वा तत्र कारणम् । श्रवणादीनां हि दृष्टद्वारकत्वम् । तच्च दृष्टं फलं क्वचित्संशयनिवृत्त्यादि यथायथमवगन्तव्यम् । संशयनिवृत्तौ, (सति सम्भवे) स्मरणं विधेयम् । सति सम्भवे सेवा कार्या । श्रवणं तु लीलात्वेन कर्तव्यम्, तथा कीर्तनं च । तदुक्तं गुरुचरणैः 'निरन्तरं भगवतः स्मरणमेव मुख्यमस्माकम्, श्रवणादिकं तु तदुपकारि, न तु स्वतन्त्रपुरुषार्थः । भक्त्युत्पत्तौ लीलात्वेन श्रवणं तु तनुजा सेवा यथा स्वतन्त्रपुरुषार्थ'इति । सेवा च चेतस्तत्प्रवणमेव, तनुजादिकं च तद्धेतुरिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

ननु अनधिकारिणि कथं भागवतार्थो देयः, तदधिकारित्वं च दृढबीजभाववत्त्वमेव, स च कथं ज्ञातव्य इत्याकाङ्क्षायामाहुः सार्धेन **बीजदार्ढ्येति** ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

उक्तबीजभावदार्ढ्यस्य, प्रकारस्तु क्रिया तु । यस्मिन् बीजभावो दृढस्तत्क्रिया तु इयम् । यत् गृहे स्थित्वा अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः आत्मधर्मोयमिति ज्ञात्वा अव्यावृत्तः सन् यथालाभसन्तुष्टः सन् कृष्णं सदानन्दं भजेत् । अनुदितमुख्यभक्तेन साधनदशापन्नेन गृहस्थाश्रमे स्थातव्यम् । तत्र स्थित्वा सन्देहमकृत्वा दृढविश्वासेन कृष्णं यथालब्धोपचारैर्भजेत् सेवेत, भज सेवायामित्यर्थकत्वात् । ननु गृहस्थाश्रमः सन्निपातरूपः कथं भगवद्भक्तिं साधयेदिति चेत्, मैवम् । 'भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात्' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति किञ्चित्' 'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोका'नित्यादिवाक्यैर्भगवदर्थिनो गृहाश्रमेपि सदर्थसिद्धेः । तस्मादप्राप्तवक्ष्यमाणलक्षणभक्तिना गृहस्थाश्रमे तदुपायः कर्तव्यः । तत्राप्ययं विशेषः । गृहाश्रमावस्थानं सिद्धगृहाश्रमस्यैव, न तु सिद्धप्रणष्टतत्कस्यासिद्धतत्कस्य वा । तदपि भजनं स्वधर्मत्वेन कर्तव्यं न तु धर्मत्वेन । तथा सति अन्यशेषत्वेनाभक्तित्वं स्यात् । अत एव गुरवः 'कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणस्मरणादेः कर्माङ्गत्वमेव, अर्थात्कर्मत्वमेव, न भक्तित्व'मिति । अत्र गृहस्थानविधानेन स्वगृहाधिष्ठितस्वरूपभजनपरित्यागेनान्यत्र तत्करणे भक्तिर्न भवतीति सूचितं भवति । तत्रापि भजने फलमुखमङ्गमुपदिशन्ति **अव्यावृत्त इति** । सर्वव्यावृत्तिं परित्यज्य कृष्णः सेव्यः । आष्टयामिकः कालो भगवद्भक्त्यैव नेयः । सेवासमये सेवा कर्तव्या, अवशिष्टकाले श्रवणादिकं यथासम्भवं कर्तव्यम् । न तु व्यावृत्त्या कालक्षेपः क्षणमपि कर्तव्यः ।

'निद्रया ह्रियते नक्त'मित्यर्थः । यद्वा । व्यावृत्तिः सर्ववस्तुविषयकः सोद्यमो मनोरथः, सर्वथा तद्रहितोऽव्यावृत्तो भवेत् । सर्वेच्छां परित्यज्य निश्चितचेतसा स्वधर्मत्वेन कृष्णः सेव्यः, न तु पूज्यः । पारिभाषिकश्चायं भेदो द्रष्टव्यः । यदि अव्यावृत्तो न भवेत्, तदा भगवत्सेवनं केवलं स्वमाहात्म्येन यथासम्भवं पापादि निवर्तयेत्, न तु उक्तं फलं साधयेदित्यर्थः । नह्यन्यचेतसा कृतं कृतमित्यभिमन्तव्यम् । अतो भगवदर्थिना त्रिकालभगवत्सेवासमये तु अवश्यमव्यावृत्तेन भवितव्यम् । तत्र कामचारः । ननु सेवा कर्तव्या, न तु पूजा । सा च कथं कथं कर्तव्या । किं स्वशारीरधर्मतत्समानधर्मत्वेनोपचर्यया, आहोस्विद्यथेच्छमागमादिरीत्या वेति सन्देहे प्राहुः पूजयेति । अत्र तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्याश्रयणादनुक्तसिद्धोपादानत्वेपि पूजायाः पृथगुपादानमुक्तभेदतश्रम् । तेन सेवाप्राधान्येन श्रवणादिनवकं विधेयमित्युक्तम् । अयमर्थः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां तु तान्त्रिकोपचारा उपयुक्ताः, तत्रापि यत्प्रेमविरोधि तन्न कर्तव्यम्, यथा नित्यं शीतोदकस्नानादि । प्रमाणबलाबलापेक्षया प्रमेयबलाबलस्याधिकत्वेन स्थापितत्वात् । यथासम्भवं चतुःषष्टि उपचाराः प्रत्यहं कर्तव्याः । अपरञ्च । त एवोपचारा भक्तिमार्गे तदीयत्वेन कर्तव्याः, न तु स्वीयत्वेन, धर्मवत् । तथा सति न भक्तित्वं स्यात् । भगवन्मन्त्राद्युपयोगश्चाश्रयविशेषावधारणेन कर्तव्यत्वेन व्याख्यातः । यत्तु कश्चित् पञ्चरात्रादिभगवच्छास्त्रतत्त्वानभिज्ञः पूजामार्गीया उपचारास्तत्साधनानि मन्त्रादीनीति न तानि पुष्टिमार्गे उपयुज्यन्ते, कथञ्चिदपि तदुपयोगे भिन्नमार्गीयत्वं स्यात्, अन्यथा पूजापूजाभक्तिमार्गयोरविशेषापत्तेरित्याह । तन्मतिमान्द्यादेव । भावविशेषात्पारिभाषिकभेदादेव तत्सिद्धेः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अनुपरमात् । अप्रामाणिकत्वापत्तेः । 'भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चे'ति सिद्धान्तग्रन्थविरोधात् । भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चेति दिक् । यद्वा । पूजया श्रवणादिभिर्वेति गृहस्थविधुरादिभेदेन पदार्थद्वयोपदेशः । 'अधिकारिभेदेनोपदेशा भिद्यन्त' इति सिद्धान्तात् ॥ २½ ॥

ननु यदि व्यावृत्तः स्याद्वृत्त्यादिहानितश्चेत्यतः प्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

नीचाश्रयणादिनिन्दितवृत्तिस्तु नादरणीया । अतिरिक्तवृत्त्या जीवेत । सा च दुःसाध्या यर्हि, तदा अवश्यं व्यावृत्तो भवति, तदा हरौ भगवदर्थं श्रवणादौ चित्तं निधाय यतेत् । सर्वथा याममात्रं कालो भगवति विनियोज्यः । श्रवणादिषु त्रिषु पाल्यमानमेकमादेहावसानं दृष्टार्थम् । अतस्तेषु यतेत् । तथापि 'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणा' इति वाक्यात्ते भगवन्तं प्राप्स्यन्त्येव ।

अत एव तत्त्वदीपे भगवदाचार्यैरुक्तं 'सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये'दिति । एवं समर्थासमर्थभेदेन गृहस्थविधुरादिभेदेन च दृढबीजभावत इतिकर्तव्यता व्याख्याता । इदानीमवसरप्राप्तं उक्तत्यागादिसाधनफलं निरूपयन्ति ततः प्रेमेति । ततस्त्यागादिसाधनानां यथाभावप्रकारानुष्ठानानन्तरं प्रेम भवति, निरुपाधिकः स्नेहो भवति, यथा स्वहेयोपादेयवस्तूनि भगवति तथा विनियुज्यन्ते । स्वात्मवद्भगवदुपचारकारको भावविशेषः । तत्र जाते सर्वत्रौदासीन्यं स्यात् । तदुत्तरं तादृशभाववता तथैव सेवायां क्रियमाणायामासक्तिर्भवति । अत्र तादृशानुपूर्वीविशिष्टैवासक्तिर्विधीयते । न तु स्वरूपतो भेदः । अन्यथा 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव, प्रेमापि हरिणा कृत'मिति विरुध्येत । आसक्तौ हि सर्वेषु अरुचिर्भवति । यथा 'चित्तं सुखेन भवते'ति । ततो यदा पुनरासक्तिरेवावस्थातो व्यसनमपि भवेत्, तदा कृतार्थः स्यात् । परा काष्ठा भक्तेः सैव यद्व्यसनम्, यथा 'तन्मनस्कास्तदालापा' इत्यादि । अवस्थाविशेषं यावद्भावः कुतो न मध्ये कालादिभिरुपहन्यत इत्यत आहुः बीजमिति । भक्तिशास्त्रे बीजं बीजभावः एवोच्यते, तदपि दृढं यन्नापि नैव नश्यति, देशकालादिभिर्न तस्य नाशः । अनेकजन्मभिरपि न तस्य नाशः, किं पुनरन्यैरित्यर्थः ॥ ३,२½ ॥

इदानीं प्रेमासक्तिकार्यं तदनुमापकमाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

यदि भगवति स्नेहस्तदा पुत्रदारधनदेहादिषु योनुरागश्चित्तव्यासङ्गः स नश्यति । मनः सर्वांशेन भगवदुपयुक्तं नान्यत्र सज्जते इत्यर्थः । आसक्त्या पुनर्गृहे अरुचिः, कदा पुनरिदं गच्छेद्येनाहं विमुक्तः स्याम् । गृहे इति यावदात्मीयोपलक्षणम् । सर्वं न रोचत इत्यर्थः । प्रेमासक्त्योः फलद्वयं प्रत्येकमाहुः गृहस्थानामिति । अत्र निर्धारणे षष्ठी, तत्र हेतुबाधकत्वं गुणः । गृहस्थाः स्त्रीपुत्रादयस्तेषां बाधकत्वम्, एते सर्वथा लौकिका उत्पन्नभावनाशका इति भासते । यद्वा । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । तथा च गृहस्थसम्बन्धि यद्बाधकत्वं तत्तदैव भासते, नान्यथेत्यर्थः । गृहस्थपदं प्रवृत्तिमार्गनिष्ठमात्रोपलक्षकमजहल्लक्षणयेति च सम्यक् । एषां पुनरनात्मत्वं अनात्मीयत्वं वा आगमापायित्वमित्यर्थः । तद्भासते । अत्र यावत्प्रेमासक्त्योः सम्भवं विरोधिधर्मवतस्तत्तिरोधानं सम्भवति । उत्पन्ने तु व्यसने साधनमसाधनं वा तुल्यमित्याहुः यदा स्याद्व्यसनमिति । भगवति हृदयाकाशे सर्वांशेन प्रादुर्भूते तदानन्दसम्पत्त्या व्यसनं जायते, अतः फलान्तराभावादिहैवानुभूतफलो विशिष्टेच्छावशतो देहादि विदधन् प्रतिक्षणं जायमानाद्विविधपरमानन्दसम्पर्काद्विगलितवेद्यान्तरविज्ञानस्त्रिगुणहीनः कृतकृत्यः कर्मत्रिपुटीविहीनः परमात्मन्येव रमते ॥ ४,५ ॥

ननु जातव्यसनावस्थेन गृहे स्थेयं न वेत्याकाङ्क्षायामाहुः **तादृशस्यापीति** ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

एवं भक्तेः पराकाष्ठां विधुरगृहस्थसाधनाधिकारियोग्यतापुरःसरं निरूप्य विरक्तस्य गृहाश्रमेच्छारहितस्य ब्रह्मचारिणो भगवदर्थिनो यतेश्च साधनमाहुः **त्यागं कृत्वेति** ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽभ्यधिकां पराम् ।

तुशब्दोधिकारिविशेषव्यावृत्त्यर्थः । य इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । सर्वस्य लौकिकस्य त्यागं कायवाङ्मनसा कृत्वा यतेत् । यत्नश्च श्राप्तमन्त्रस्मरणकीर्तनाराधनभगवल्लिङ्गादिदर्शनादिपरायणतैव । सदृष्टप्रतिबन्धस्यादृष्टप्रतिबन्धस्य चैतन्मार्गपक्षपातिना भगवतैव निवृत्तत्वात्सुदृढां केनाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । अत भगवदधीनत्वबोधायानुवादो, न तु विधानम् । तत्रापि यदि अन्यशेषत्वेन लोकान्तरापेक्षया मुक्त्याद्यपेक्षां कुर्यात्, तदा उक्तस्वरूपां तां न लभते इति अनवद्यतादृशतत्प्राप्तौ अधिकारिविशेषणमाहुः **तदर्थेति** । भगवद्रूपो योर्थस्तदर्थ एवैको मानसे यस्य स तथा । अत्र द्वितीयार्थपदेन तद्रूपस्यैव पुरुषार्थत्वेन ज्ञानं तद्धेतुर्नान्यथेति सूचितम् । सापि भक्तिर्न मनोधर्मरूपा, अपि तु आत्मधर्मरूपा, तां प्राप्नुयादित्याहुः **परामिति** ॥ ६,६½ ॥

एवं विशिष्याधिकारं व्याख्याय साधनं अदृष्टकालादेर्भगवन्मार्गे प्रतिबन्धकत्वाभावात् दृष्टं प्रतिबन्धकं प्रदर्श्य तन्निवृत्तिप्रकारपूर्वकं गुणाधानमाहुः **त्यागे बाधकेति** ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

गृहत्यागे कृते भक्तेर्बाधकानि भूयांसि संभवेयुः । दुःसंसर्गो भवति, तेन भक्तिविषयेऽसम्भावना विपरीतभावना वा उत्पद्यते, द्वयं वा । तेन भक्तिमार्गीयप्रकारकाचरणाभावाद्भक्तिर्नोत्पद्यते । दुःसंसर्गो वा एकाकिनो वनितादिसङ्गः, तेन विषयावेशे भक्तेरनुद्भवः । उक्तं च भगवता 'सङ्गात्सञ्जायते कामः' इत्यादि । अथवा, दुष्टानामवैष्णवानां संसर्गात्तैः सर्वथा भक्तिनाशो भवेत् । यथैव दुःसंसर्गः सर्वथा बाधकः, तथा अवैष्णवानामनीदृशानामन्नतः अन्नभक्षणतः, अवैष्णवानां जलपानेन भक्तिर्नोत्पद्यते । अत एव धृतवराहरूपेण भगवता पृथ्वीं प्रत्युक्तं 'वैष्णवो यस्तु मोहेन पचेदन्नमनुत्तमम् । अवैष्णवाग्निना देवि तन्न भुञ्जे यथा विषम्' । अन्यत्र च । 'वस्तु यद्वैष्णवं किञ्चिद्यदि पश्येदवैष्णवः । न तन्मय्युपयुज्येत पुंसि स्त्रीव रजस्वला' । तस्माद् दृष्टभेदेन प्रतिबन्धं व्याख्याय तन्निवृत्तावुपायमाहुः **अतः स्थेयमिति** । यत उक्तरीत्या भक्तिप्रतिबन्धो

भवेत्, अतो हरिस्थाने पुरुषोत्तमस्थाने व्रजे वा श्रीरङ्गधामपुरुषोत्तमक्षेत्रद्वारावतीषदर्याश्रमवैङ्कटादिषु वा स्थेयम् । तत्रापि विविधानां समागमनात्साधनदशापन्नत्वाच्च स्वस्य न सर्वैः सह स्थातव्यम्, उक्तदोषापत्तेः, किन्तु तदीयैर्भगवदीयैर्न तु कर्मिष्ठादिभिर्वा । तत्रापि दीक्षादिकं परिगृह्य केवलं व्याख्यातारः प्रतिष्ठाप्रेक्षका लोकसङ्ग्रहार्थम्, तैर्न स्थातव्यम्, किन्तु तत्परैः कृष्णपरायणैः सेवाश्रवणकीर्तनादिना । अत्र सर्वात्मना भगवति चित्तव्यासङ्गो मुख्यं साध्यम्, तद्यथा सिध्येत्, तथा विधेयम् । तादृशस्थलेऽपि तत्रैव न स्थेयम्, किन्तु दूरे दूरभिन्ने दूरसदृशे । **अथाविप्रकर्षे वा** । विवक्षितं तात्पर्यमाहुः **यथा चित्तं न दुष्यतीति** तथा विधेयम् । चित्ते दोषो बाहिर्मुख्यमभगवत्परत्वमिति यावत्, तद्यथा न स्यात्, तथा यतनीयम् ॥ ७,८ ॥

ननु भगवत्सेवाया अभावात्तत्साधमत्वमिति चेत्तत्राहुः **सेवायां वेति** ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

न वयं तनुजावित्तजाद्यन्यतमसेवायामेव फलत्वं ब्रूमो येन यतिप्रथमानामधमत्वं स्यात्, किन्तु भगवत्प्राप्तिं तत्साधनं च भक्तिर्निरुपाधिकप्रेमात्मिकैवेति तस्यामेव फलनान्तरीयकत्वात् । किमायातमेतावता साधनकलापमनुष्ठातॄणामुत्तमादिविभेदे उक्तश्रद्धासाधनप्रवृत्तितारतम्यातिरिक्तं हेतुत्वेन । अतः सेवायां द्विविधायामपि गृहस्थस्य, कथायां साम्प्रदायिकगुरुकृपाकटाक्षपूर्वकगृहीतसाम्प्रदायिकगतिना कृतायां यतेर्ब्रह्मचारिणो वा यस्य कस्यचिद्भगवदनुगृहीतस्यासक्तिर्दृढा, केनापि अनपनोद्या हर्षविषादादिनाप्यनपनोद्या भवेत् । ननु इदानीन्तनानां दृश्यते सेवाद्यासक्तिः, कथं न भक्तिरुत्पद्यते इत्याशङ्कायामाहुः **यावज्जीवमिति** । भगवन्मार्गप्रवेशमारभ्य यावद्देहावसानमावर्तमानानामेव श्रवणादीनां दृष्टार्थत्वम्, न तु सकृत्कृतानामिति भावः । य एतादृशस्तस्य क्वापि देशे काले नाशो नाम स्वरूपप्रच्युतिर्न स्यात्, यत्र क्वापि निन्दिते देशादौ तिष्ठेत्सर्वथा मुक्तो भवेत्, किं पुनरुत्तमेऽनुकूले उक्तविधे देशादावित्याचार्याः स्वयं वदन्ति **मम मतिर्मतं** सिद्धान्तः । नात्र सन्देहः कर्तव्य इति तत्त्वम् । ननु विप्रकर्षे स्थेयमित्युक्तम्, तत्र च दुष्टैरन्यैर्वा जन्तुभिः सर्वथा बाधः सम्भाव्यते, तत्कथं विप्रकर्षे एकान्ते स्थेयमित्यत्राहुः **बाधसम्भावनायां** त्विति । तेन बाधसम्भावनं यत्र न स्यात्, तादृशं स्थलं विमृश्य स्थेयमिति सूचितम् । वस्तुतस्तु अमायया भगवदर्थमेकान्ते वसतः केनापि बाधो न सम्भवतीत्याहुः **हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।** एतेन 'चीराणि किं पथि न सन्ति' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' 'भक्तायातिप्रपन्नाय'

'तथा न ते माधव तावका' इत्यादिप्रमाणपुरःसरं सर्वथा निर्भयतया निश्चित्य श्रेयम्, विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९,१० ॥

एवं ग्रन्थमुपदिश्योपसंहरन्ति **इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति** ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् । भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चेति त्रिकम् । तत्सिद्धान्त एतावानेवेत्यर्थः । गूढतत्त्वमिति विशेषणेप्ययमेवार्थः । उपसंहृत्यैतत्पाठकर्तुरर्थानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि फलमाहुः **य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः** । ग्रन्थानुसन्धानात्तत्प्रवृत्त्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

जिज्ञासितव्यमिदमुत्तमभक्तिचित्तैः सिद्धान्तरीतिमनुसृत्य मयातियत्नात् ।
क्लृप्तं निबन्धनमसौ विबुधेषु याञ्चा दूष्यं वचो यदि तदा प्रथमं विभाव्यम् ॥ १ ॥
आरब्धमर्थधिषणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।
तच्चेचिरं भवति तत्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसंनिविष्टम् ॥ २ ॥
संवत्सरे सप्तदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिहस्तसंख्ये ।
दिने तथा श्रावणकृष्णपक्षद्वयीकृतेसौ विवृतः प्रबन्धः ॥ ३ ॥
काहं मन्दमतिः कायं प्रबन्धस्तत्त्वसङ्ग्रहः ।
शिशूनां भासते रम्यं तथापि कलभाषणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीविठ्ठलपदान्नत्वा सर्वाभीष्टप्रदान् स्वतः ।
शब्दैः संक्षेपतोर्थैस्तु व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमकृपालवो भगवद्भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव वदन्तः स्वीयानां स्वमार्गीयभक्तिकल्पतरोर्बीजावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृद्ध्युपायं प्रतिजानते **यथेति** ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरूप्यत इत्यर्थः । अत्रोपायत्वाविशेषात् जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोत्तरोत्तरं दृढतरतमाद्विप्रकारका उपायाः सन्तीति तानाहुः । तत्र प्रथमं बीजस्य दृढत्वे सत्येवाग्रे तरोरप्यविनाशित्वं भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तरुर्नश्यत्येव । अतस्तमुपायमाहुः **बीजेति** । बीजभावः श्रीमदाचार्यकृतभगवन्निवेदनानन्तरं तन्मार्गानुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्ठारूपः, स यदा दृढो भवति, तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति प्रथमः । तदनन्तरं **त्यागात्** गृहादिसर्ववस्तुनस्त्यागे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीयः । ततः **श्रवणकीर्तनात्** भगवद्गुणरूपलीलादीनां स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वकं तद्रसपरवशतया श्रवणकीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीयः ॥ १ ॥

ननु दृढबीजभावः को वा तस्य दार्ढ्ये प्रकारश्च को वेत्याशंक्य पूर्वं सोद्देशं बीजदार्ढ्यप्रकारं ततो बीजभावस्वरूपं चाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति** ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

स्वन्तत्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विघातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थोस्तीत्यस्याप्रौढत्वमुक्तं भवति । तथाचायमप्येकः प्रकारो भवतीति तं पूर्वमुद्दिश्याग्रे प्रकारमाहुः **गृहेति** । स्वगृह एव स्थितः सन् स्वधर्मतः जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तस्तेषु व्यावृत्तिरहितः सन् विशेषेणावृत्तिः सततं तद्धर्मेष्वेवासक्तिपूर्वकं वाक्कायमनसां परिश्रमणं तद्रहितः पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसंग्रहार्थं यथाकथञ्चित् कुर्वन्नपि तेष्वसक्तः सन्, पूजया तनुवित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत । एतेन लौकिकधर्मव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्धर्मेष्वेव व्यावृत्तः स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते' त्यर्थेन मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे व्यवस्थया भक्तिमार्गीयस्यापि तामाहुः 'मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायत' इति । अतो भगवद्धर्मेषु व्यावृत्तस्य लौकिकधर्माव्यावृत्तिर्युक्तैव । अथवा **स्वधर्मतः अव्यावृत्तः** अनिवृत्तः सन् । पूर्वदशायां चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे 'अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छये'ति ॥ २ ॥

किञ्च, न केवलं भगवद्धर्मस्थितिमात्रेणाहं कृतार्थोस्मि, नातः परमधिकं किञ्चिदस्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वग्रे धर्मिसम्बन्ध्यपि किञ्चित् कर्तव्यमेवेत्याहुः **व्यावृत्तोपीति** ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

श्रवणादौ व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि **चित्तं यसेत्** प्रयतेत । तथा कुर्वन्नपि प्रेमसेवामपि कुर्यादित्यर्थः । यद्वा । ननु 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दिति न्यायेन देहाध्यासवैधा धर्माः सहसा कथं त्यक्तुं शक्यन्त इत्याशङ्क्याहुः **व्यावृत्तोपीति** । स्वधर्मेषु व्यावृत्तोपि यथाविधि यावच्छक्यं तान् कुर्वन्नपि श्रवणादिषु भगवद्धर्मेषु हरौ भगवति धर्मिणि च चित्तं यसेत् प्रयतेत । कायिकप्रवृत्त्यां तत्र व्यापृतायामपि वाचिकमानस्यौ ते भगवत्येव प्रयोक्तव्ये सर्वथेत्यर्थः । तावतापि कार्यं सिध्यतीत्यर्थः । एवं बीजदार्ढ्यप्रकारमुक्त्वा क्रमेण वर्धमानं पूर्णं च बीजभावमाहुः **ततः प्रेम** इति । ततस्तदनन्तरम् । अथवा । एवं क्रियमाणेभ्यः श्रवणादिभ्यः पूर्वं भगवद्विषयकं प्रेम उत्पद्यते, ततः क्रमेण भगवत्यासक्तिर्भवति । ततोग्रे व्यसनं भवति । व्यसने जाते तदेव दृढबीजभावपदवाच्यमित्याहुः **बीजमिति** । भक्तिशास्त्रे तदेव दृढं बीजमित्युच्यते । यद्बीजमुक्तप्रकारेण स्थितौ दृढं सत् कदापि न नश्यति ॥ ३½ ॥

ननु प्रेमाद्यवस्थास्तु मानस्यो भवन्ति, ताः कथं पृथक् पृथक् ज्ञायन्त इत्याशङ्क्य तासां व्यावर्तकधर्मानाहुः **स्नेहादिति** ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहे उत्पन्ने तत्पूर्वं स्थितस्येतरविषयकानुरागस्य विशेषेण नाशः स्यात् । ततो यदा भगवत्यासक्तिर्जायते, तदा गृहे गृह्यपदार्थेषु चारुचिर्भवति । तत्र स्थित-बन्धुकलत्रादिषु किञ्चिद्विशेषमाहुः **गृहस्थानामिति** । गृहस्थिता ये बन्धुकलत्रादयस्तेषां स्वस्मिन्स्थितभगवद्भावे बाधकत्वमत एवानात्मत्वं च स्वस्य भासते । अयमाशयः । गृहे ये बन्धुकलत्रादयस्ते सर्वे नैकजातीयभावाः, किन्तु विजातीयभावाश्चान्योन्यम् । तत्र केचन लौकिका दैहिकधर्मपराः, केचन वैष्णवा अपि नानाविधभगवद्धर्मपराश्च भवन्ति । तथा च भगवदासक्तिपूर्णानां मनसि तेषु सम्यक्त्वेनोपादेयत्वं न स्फुरति । एकेषु स्वभावविघातकत्वेनैतत्सङ्गः सर्वात्मना न कर्तव्य एवेति भासते । अपरेषु वैष्णवत्वेपि विजातीयभाववत्त्वेन नैते मद्भावस्य पोषकाः, किन्तु विक्षेपका इति नात्मीया भवन्त्यतः समुपेक्ष्या एवेति भासत इति । अग्रिमावस्थामाहुः **यदेति** । यदैव कृष्णे सदानन्दे व्यसनं तस्योत्पद्यते, तदैव कृतार्थः साधितः सम्यगर्थः भक्तिपदार्थो येन तादृशः स्यात् । व्यसनस्वरूपं तु 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्'

इत्यादि । व्यसनपदेन यथा द्यूतकामादिव्यसनिनः ऐहिकपारलौकिकेभ्यो लज्जाभयादिकं सहसा परित्यज्य तत्तत्परतयैवेतरानुसन्धानरहिताः सन्तस्तिष्ठन्ति, तथैतेपि सर्वं परित्यज्य भगवदेकपराः सन्तस्तिष्ठन्तीति ज्ञाप्यते । परमेतावान् विशेषः, तत्र वैषयिकत्वादसद्रूपं सर्वम्, अत्र तद्रहितत्वात्परमकाष्ठापन्नं सर्वमिति । अन्यथा 'विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरे'रित्याचार्या न वदेयुः । तथा चैवं व्यसनावस्थायां जातायामेव बीजभावस्य पूर्णं दृढत्वं स्यादित्यर्थः । एवं पुष्टिभक्तिकल्पतरोः सर्वथाऽविनाशिदृढतम-बीजभावो निरूपितः । ततोऽग्रे शाखापत्रादिस्थानीयभावानां वृद्धिरनुक्तसिद्धै-वेति हृदयम् ॥ ४,५ ॥

नन्वतिदृढत्वाद्बीजभावस्य नाशो मास्तु, परन्तु तदुत्पन्नकोमलशाखापल्लवादीनां पक्षिमृगादिकृतकृन्तनवदिहापि बीजोत्पन्नावान्तरभावनाशस्तु सम्भाव्यत एवेत्याशङ्क्य पूर्वं नाशकपदार्थमुद्दिशन्ति **तादृशस्यापीति** ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशनम् ।
त्यागं कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

सञ्जातव्यसनस्यापि सततं गृहस्थानं गृहे स्थितिर्विनाशनं बीजोत्पन्नकोमलभावानां विघातकमित्यर्थः । एवमुद्दिश्यैतत्प्रतीकारमपि वदन्तः पूर्वोक्तभक्तिप्रवर्धकोपायेषु द्वितीयमुपायमाहुः **त्यागमिति** । गृहादिसकलवस्तुनस्त्यागं कृत्वा यसेत्, व्यसनदार्ढ्यप्रयत्नं कुर्यादित्यर्थः । अयं त्यागस्तु संन्यासनिर्णयोक्तभक्तिमार्गीयतुरीयाश्रमग्रहणरूपः । तत्र त्यागेपि प्रकारविशेषेण स्थितिं वदन्तस्तृतीयं भक्तिप्रवृद्ध्युपायमाहुः **यस्तु तदर्थार्थैक-मानस** इति । तु पुनः यः तदर्थार्थैकमानसः स भगवानेवार्थः सकलपदार्थरूपो येषां ते तदर्थाः स्वतन्त्रभक्तास्तेषामप्यर्थः मुख्यः पदार्थस्तादृशभक्तैः सह मिथो गुणगा-नरूपान्तररमणात्मिका केवला वा विप्रयोगावस्था । तत्रैवैकं केवलं मुख्यं च मानसं यस्य तादृशः सन् यसेत्, तत्तद्भावानुभवं कुर्यात्, सः सुदृढां कालादिभिरपि चाल-यितुमप्यशक्यां सर्वतः मुक्त्यादिभ्योपि अधिकां परां परमकाष्ठापन्नां स्वतन्त्रफलरूपां भक्तिं लभते प्राप्नोति । एतेन पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्भक्तिप्रवर्धकोपायैः क्रमेणोत्तरोत्तरमधिका सुदृढा, सर्वतोऽधिका, परा चेति त्रिविधापि भक्तिप्रवृद्धिरुक्ता । ननु 'ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधका' इत्युक्तेः कथं गुणगानस्य परमफलत्वमुच्यत इति चेत् । मैवम् । ते तु मायादिका एव बाधकाः, नैतन्मार्गीयाः । अन्यथा तत्रैवाग्रे 'गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति ही' त्याचार्या न वदेयुः । न'न्वधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि'रिति न्यायेन विरहे जीवनाशा तदर्थं यत्नश्रमौ सुतरां न युक्तराविति चेत् । न । जीवनमृते विरहजदुःखस्यानुभवासम्भवात् । अन्यथा घातपातादिनापि

जीवनमपहातुं शक्यत एवेति तथैवोक्तं स्यात् । अतो नेह तथा, यतो विरहस्य सम्यगनुभवार्थमेव परित्यागस्य बोधनमस्तीति दिक् । एवं फलपर्यन्तं भक्तिः सोपाया निरूपिता ॥ ६½ ॥

ननु सञ्जातव्यसनस्यापि यतस्त्यागमृते न फलसिद्धिस्ततोऽसंजातप्रेमाद्यवस्थ एव येनकेनापि हेतुना यथाकथञ्चित्संजातस्पृहादिविराग एव कथं न सर्वत्यागं कुर्याद्यतस्तदनन्तरं फलाऽवश्यंभावो भवतैवोच्यत इत्याशङ्क्याहुः **त्याग** इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

साधनदशायामेव त्यागे कृते तत्र भूयांसो बाधकाः सम्भवन्तीत्यर्थः । ननु ते किंमूलमादाय सम्भवन्तीत्याशङ्कायामाहुः **दुःसंसर्गा**दिति । दुष्टैः सह संसर्गेण दुष्टानां दुष्टे वा अन्ने भुक्ते बाधका उत्पद्यन्ते । अयमर्थः । सर्वं त्यक्त्वा यत्र कुत्रचित्स्थितेनापि यतिना नैकाकिना नापि क्षुत्पिपासार्दितेन कथञ्चित्स्थातुं शक्यते, अपक्वदशापन्नत्वात्, तथा च तदर्थं दुष्टैः सङ्गे दुष्टान्नभोजने च कृते सर्वं कृतमप्यकृतप्रायं भवतीति तथा । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः संन्यासनिर्णये 'गृहादेर्बाधकत्वेने'त्यारभ्य 'अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावह' इत्यन्तेन । अतोऽस्मिन् भक्तिमार्गे साधनदशायां परित्यागो न कर्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

नन्वेवं च सति साधनदशापन्नैः स्वभार्यादिकृतसेवादिप्रातिकूल्यसम्भवे कुत्र कथं च स्थेयमित्याकाङ्क्षायामाहुः **अत** इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः साधनदशायां त्यागे कृते बाधकभूयस्त्वमत एव हरेर्भगवतः स्थाने निबन्धोक्तेषु पुरुषोत्तमादिषु व्रजादिषु वा स्थेयं स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः । अत एव निबन्धेपि स्वभार्यादि[प्र]ातिकूल्येन गृहे स्थातुमशक्तस्य गृहादित्यागप्रकारमुक्तवन्तः श्रीमदाचार्याः, 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति । अयं त्यागस्तु न तुरीयाश्रमग्रहणरूपः, किन्तु गृहस्थेषु कलत्रादिषु मध्ये एकः द्वौ बहवो वा ये एव प्रातिकूल्यं सेवादौ कुर्वन्ति, तानेव यावच्छक्यं त्यजेदित्येवंबोधकः । अत एव 'गृहं त्यजे'दित्यस्य विवरणं 'गृहं भार्यादिक'मित्युक्तम् । दैवात्पुनः सर्वप्रातिकूल्ये तु सेवाद्यनिर्वाहात् स्वस्य स्थातुमशक्तेर्वा गृहमेव परित्यज्य सेवादिसामग्रीमपि स्वसार्थ एव नीत्वा पूर्वोक्तभगवत्स्थानेषु यत्र कुत्रापि स्थितः सन् तत्परतया सेवादिकं कुर्यादित्याशयः । एवं च सति पूर्वोक्तत्यागनिषेधस्तु तुरीयाश्रमीणत्यागपर एव । यतस्तत्र सेवाद्यवलम्बासम्भवेनापक्वत्वेन च दुःसङ्गदुष्टान्नभोजनादिकं भवत्येव । तत्तु सर्वथा बाधकम् । अत एवैकादशस्कन्धे दुःसङ्गस्य बाधकत्वमुक्तम् । 'सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृणां

क्वचित् । तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धव'दित्यादिभिः । दुष्टान्नस्य तु बाधकत्वमुक्तं पद्मपुराणे । 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं च यद्विष्णोः श्वमांससदृशं विदु'रित्यादिभिः । पक्वदशापन्नानां तु 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद'मित्यादिना स्वरूपनिरूपणात्स्वात्मादिसर्वानुसन्धानापगमादेव तत्तद्विषयाभावानां दुर्वारगर्वग्रहत्वमिति दिक् । एवमेषां वासस्थलमुक्त्वा स्थितौ प्रकारमाहुः **तदीयै**रिति । भगवदेकपरा ये भगवदीयास्तैः सह मिलित्वा तन्निकट एव अर्थात् तैः सहैव वसन् सेवाश्रवणकीर्तनादिपरतया स्थेयम् । एतेन दुःसङ्गदुष्टान्नप्रभवा दोषा निवारिताः । न'न्वतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कथं सततं निकट एव स्थातुं शक्यत इत्याशङ्क्य प्रकारान्तरमप्याहुः **अदूरे**ति । वा अथवा अदूरो दूरत्वाभावः तद्वान् यो विप्रकर्षो दूरदेशस्तत्र स्थेयमित्यर्थः । अर्थात् नातिदूरे नातिनिकटे परं ततः किञ्चिद्व्यवधानेन स्थेयम् । मिलनादिकं तु तैः सह नित्यं सर्वथा कर्तव्यमेव । अन्यथा तदैवासुरभावप्रवेशः स्यात् । अदूरमिति पाठेऽदूरमिति क्रियाविशेषणम् । अग्रे पूर्ववत् । नन्वेवं चेत् किमिति व्यवधानेन स्थितिर्बोध्यत इत्याशङ्कायामाहुः **यथे**ति । यथा यत्प्रकारकस्थितौ स्वस्यान्येषां च चित्तं कदापि न दुष्टं भवति तथा स्थेयमित्यर्थः । अत्रायं समुदायार्थः । भार्यादीनां सेवादावानुकूल्ये सति तैः सहैव सेवां कुर्वन् तैश्च कारयन्स्वगृहे स्थेयम् । उदासीनेषु तेषु सत्सु गृह एव स्वयमेव सेवादिकं कुर्यात् । तदभावे तु तेषु प्रातिकूल्यं परित्यजेत् । सर्वप्रातिकूल्ये गृहमेव त्यक्त्वा भगवत्स्थाने स्थितः भगवदीयैर्मिलित्वा सेवाकथादिपरतया तिष्ठेत् । अथ तत्सहवासे चेत्स्वमनसि तद्विषयकं दोषादिकमाभाति, अथवा स्वादृष्टवशात्तेषामेव मनसि स्वविषयकं तदायातीति मनसि सम्भाव्य तेभ्यः किञ्चिद्दूरदेशे स्थित्वा तत्रैव सेवादिकं कुर्यात्, तदनवसरे तत्र गत्वा तैः सह श्रवणकीर्तनादिपरतया तिष्ठेदित्यर्थः सम्पन्नः । यद्वा । अदूरेति । भगवत्स्थानादेवादूरविप्रकर्षे स्थेयम् । तत्रैव स्थितौ तु अतिपरिचयाद्भगवतो भगवदीयानां वा विषयका अपराधाः सम्भवन्ति, तेन तु स्वस्य चित्तं दुष्यत्येवेत्यत आहुः **यथे**ति । यथैव स्थिते चित्तं न दुष्यति तथैव स्थेयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु व्यसनानन्तरमपि फलदशायामेव चेद्बाधकसम्भावना, तदा सुतरामेव साधनदशायां सेति कथं सुखेन सेवादिनिर्वाह इत्याशङ्कायामाहुः **सेवाया**मिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां तनुवित्तजायाम् । अत्र वाशब्दः स्मरणस्यापि सङ्ग्राहकः । सेवाया अशक्तावनवसरे वा श्रोतृवक्त्राद्यभावे स्मर्त्रापि वा भवितव्यम्, नान्यपरतया स्थातव्यमिति बोधकः । अत एवोक्तं नवरत्नप्रकाशे 'अन्यथा तदैवासुरभावप्रवेशः स्या'दिति । कथायां

श्रीभागवतादिश्रवणकथनादौ । अत्र वाशब्दः श्रवणकथनयोरन्यतरेणापि कार्यसिद्धिर्भवत्येवेति सूचकः । परमुभयोरपि तत्र तत्र दृढासक्तिरपेक्षिता । ततो यावज्जीवं तस्यां स्थितायां तस्य भक्तस्य नाशस्तद्भावात् च्युतिस्तस्य भावस्य वा च्युतिः क्वापि इहास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वाऽमुत्र च नास्त्येव इत्येव मे मतिः सम्मतिर्निश्चयात्मिका बुद्धिर्वा । तथा च सेवायां श्रवणकीर्तनयोर्वा यस्य दृढासक्तिर्भवति, तस्य तावद्भावात् च्युतिः कदापि न भवति, परमग्रे भाववृद्धिस्तु स्वभाग्योन्नतिसमये भगवतस्तद्भक्तानां च कृपया भविष्यत्येवेति परमार्थः ॥ ९ ॥

नन्वेवं सर्वं त्यक्त्वा स्थितस्य तत्रापि चेत् कश्चनोपद्रावकः पदार्थः सम्पद्येत, तदा तेन किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **बाधेति** ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

एकान्तेपि चेद्बाधकसम्भावना स्यात्तदा पुष्टिमार्गीयैर्ग्रहिलतया तत्रैव स्थित्वा भगवति भारो न देयः । अतस्तत्र तस्य वासो नेष्यते, इष्टसाधको न भवतीत्यर्थः । ननु पुनस्तत्र तत्रापि चेत्तत्सम्भवस्तदा 'त्वितो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' इति न्यायेन कांदिशीकस्य तस्य का वा गतिरित्याशङ्कायामाहुः **हरिस्त्विति** । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, अतः सर्वतः । तसिलः सार्वविभक्तिकत्वात्सर्वेषां स्वीयानां सर्वेभ्यः प्रतिबन्धकेभ्यः सर्वेषु देशेषु सर्वैर्लौकिकालौकिकोपायैः सर्वप्रकारैश्च रक्षां निःसन्दिग्धं भगवान् करिष्यत्येवेति नात्र संशयात्मभिर्भवितव्यमित्यनवद्यं सर्वम् । अन्यथा 'अनन्या' इति 'न मे भक्त' इति 'मां हि पार्थ' इति 'द्वि स्थापयती'त्यादीनि भगवद्व्रतानि बिरुदानि च विफलीभवेयुः ॥ १० ॥

एवं भक्तिसाधनदशायामपि स्थित्यादिप्रकारमुक्त्वा उपसंहरन्त एतत्स्तोत्रपाठस्य फलमप्याहुः **इतीति** ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति परिसमाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्धर्मशिक्षकं शास्त्रम्, अत एव गूढं तत्त्वं स्वरूपात्मकं यस्मिन्निति तादृशम् । स्वतस्त्वायितपुष्टिपुरुषोत्तमस्य सत्वरमेव साक्षात्सम्बन्धजनकत्वमिति यावत् । तन्निरूपितं नितरामुक्तम् । एतन्मार्गीयो यः कोपि वा एतच्छास्त्रं सम्यगर्थानुसन्धानपूर्वकं श्रीमदाचार्यचरणेषु श्रद्धाविश्वासादिपूर्वकं चाधीयीत पाठं कुर्यात्, तस्यापि भगवति रतिर्दृढा स्यात् । दृढत्वं तु क्रमेणासक्तिव्यसनयोरनन्तरायं नियतपूर्वभाववृत्तित्वम् । अत्रायमाशयः । पूर्वं स्नेहोत्प-

त्त्यर्थं ये उपाया निरूपितास्तान्विनैवैतत्पाठमात्रेणापि भगवति प्रेम उत्पद्यते । तदनन्तरं यथोक्तरीत्या स्थितौ तदग्रिमावस्थास्त्ववश्यभाविन्य एवेति परमार्थः ॥ ११ ॥

अत्र युक्तमयुक्तं वा लिखितं यन्मयाज्ञतः । तद्विट्ठलः कृपासिन्धुरज्ञस्य क्षम्यतां मुदा ॥१॥

इति श्रीविट्ठलनाथचरणैकतानश्रीव्रजभूषणात्मजश्रीगिरिधरविरचित-
भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीद्वारकेशविरचितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्वल्लभपादपद्मरजसः संस्मारणेनैव मे
ज्ञातुं सर्वमशक्यमत्र सदसद्वैवेकिकं यत्परम् ॥
ज्ञातं शक्यमसाध्यमेव नितरां साध्यं तदुक्तार्थत-
स्तद्विश्वासबलाश्रयैकनिरतो वक्तुं प्रवृत्तोस्म्यहम् ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यवर्याणां चरणानुग्रहादहम् ।
तदुक्तवाक्यसन्दर्भे विमृशामि यथामति ॥ २ ॥

तत्र पूर्वं यथा भगवान(न)न्यपूर्वाभ्यस्तादृशरसोपयोगिदशाविरहादनधिकारित्वमाशंक्य तदग्रिमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं साधनत्वेन त्यागात्यागहेतुकीं भक्तिं ताभ्यः प्रयच्छतीति भावफलोपकारावधि तदुत्पादकबीजभावत्वेन तादृशरसात्मकं स्वरूपं भावरूपत्वेनैतद्भावनया तत्तदन्तःस्थापितमिति ततो भक्तिस्तयाग्रे च रमणं फलमिति राद्धान्तसम्मतः पन्थाः । यद्यप्येतदतिरिक्तानां भक्तानां 'व्रजे गोप्यो भविष्यथे'ति वरप्राप्तत्वात्साम्प्रतमधिकारित्वं वर्तत एव, तथापि, 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावा'दिति न्यायेनैतत्सहकार्यत्व एव फलदानम्, यत एतासामेव वरप्राप्तत्वेनात्र रमणविशिष्टाः क्षपा दत्तास्तद्व्यतिरेकेण नास्य सम्भावनमिति नैतत्पूर्वं तासां रमणमिति भावः । अत एवाग्रे भगवदाकारणं तु तावदेतद्विषयकमेव स्पष्टीकृतं श्रीमदाचार्यैः । तथा सत्युभयोर्भगवतः प्राथमिकसंबन्ध एव बीजम्, तदाचाह्वानम् । भक्तिश्चरणारविन्दरूपा । तस्या नैरन्तर्यभावनेनावसरे प्राप्ते बीजपरिपाकदशायां फलं साक्षात्स्वरूपानन्दानुभव इति यावत् । तत्र कुमारिकाणामत्यागः, तद्व्यतिरिक्तानां त्याग इति स्थापितत्वात् । अत एव व्रताध्याये श्रीमदाचार्यैरुक्त'मत्यागस्त्यागादुत्तम' इति । तथात्राप्याधुनिकदैवीसृष्ट्युत्पन्नानां जीवानां सर्वदोषदूरीकरणार्थं तादृशरसात्मकम-

जनानन्ददानार्थं च तादृक्सेवनानुकरणोपदिष्टत्वेन श्रीमदाचार्यवर्यास्तदुभयपक्षमाश्रित्य साक्षात्फलप्राप्त्यर्थं नामस्मरणानन्तरं फलपरिचयावधि साधनत्वेन भक्तिवृद्धिप्रकारं निरूपयन्ति **यथेति** ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽप्यधिकः स्नेहो भक्ति'रिति । यत्र वरप्राप्तत्वेन पूर्वकालिनकसंस्कारकरणानन्तरमेव भक्तेः प्रक्षिप्तबीजत्वम्, तत्र स्मरणबाहुल्यादङ्कुरितत्वम्, ततस्तथात्वे पल्लवितत्वम्, तथैव कुसुमितत्वम्, एतावन्मात्रकं फलीकरणावधि वर्धकत्वमग्रे कुतो न स्यादित्यनुसन्धेयम् । **सा प्रवृद्धा स्या**दिति । प्रकृष्टेन वृद्धिः प्रतिक्षणं तादृगार्तिपूर्वकस्मरणबाहुल्येन । **तथोपाय**स्तत्प्रकारकाचरणोपायो निरूप्यते, उत्तरवाक्य एव विशदीक्रियत इत्यर्थः । बीजभावे दृढीकरणापेक्षकत्वम्, अन्यथा तुशब्दस्य पूर्वपक्षव्यावर्तकत्वानापत्तिः स्यात् । किञ्च, बीजभावे दृढे सत्येवाग्रेऽङ्कुरभावमारभ्य फलपर्यन्तं तदुद्भावनपूर्वकं वर्धकत्वम् । अन्यथा कृतोऽपि संस्कारो व्यर्थ एव स्यात् । अत एव 'भावैरङ्कुरित'मित्याद्युक्तयस्तु तादृग्बीजभावफलीकरणत्वमेवाभिव्यञ्जयन्ति । तत्र विषयव्यवस्थाभेदेन हेतुत्रयमुच्यते **त्यागाच्छ्रवणकीर्तना**दिति । अत्र तामसानां त्यागादेव तथात्वम् । सात्त्विकराजसानां तु श्रवणकीर्तनादिति योजनोभयत्रैव वेदितव्या । तथा सति पक्षद्वयविशिष्टविभागसमानाधिकरणत्वेन हेतुनिरूपणप्रस्तावेऽपि सामानाधिकरण्यात्तद्भिन्नत्वं स्वीकर्तव्यम् । अत एव त्यागादिति पृथगुक्तिः, न तत्र समाहारे योजना । श्रवणकीर्तनयोस्त्वेकवद्भावत्वेन तथात्वादत्यागपक्षमाश्रित्य श्रवणकीर्तने एव हेतुत्वेन निरूपिते, नतु त्यागः । तस्माद्यथायोग्यतया हेतुनिरूपणं ज्ञेयम् । अत एव 'श्रवणा'दित्यारभ्य'प्रतियातु ततो गृहा'नित्यन्तेन तद्दृढीकरणार्थमेव भगवता यद्यप्युक्तम्, तथापि नाङ्गीकृतमेताभिः, किन्तु 'स्वपक्ष एवादरणीय' इति न्यायात्त्याग एव तासां दार्ढ्यसम्पादकत्वम् ॥ १ ॥

अतः परमेतावन्मात्रकं बीजदार्ढ्यमुपपाद्य तत्प्रकारमप्यग्रे प्रकाशयन्ति **बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्व**ति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र कुमारिकावरप्राप्तसाधननिरूपणत्वेन प्रथमतस्तत्प्रकारमेव प्रचारयन्ति । अतस्तुशब्देन तत्प्रकारकातिरिक्तप्रकारं व्यावर्तयन्ति । तद्यथा । **गृहे स्थित्वा स्वधर्मत** इत्यत्र स्वेत्यात्मा भगवान् तद्धर्मतः षड्गुणैश्वर्यादिकमनुभवन् तादृशरसभोक्त्रीणामाचरणं ज्ञात्वा भजेदित्यन्वयः । अथवा, यथैताः स्वस्य पूर्वं भगवद्गृहीतपुंस्त्वाख्यधर्ममधुना प्राप्य पूर्वकालीनोपदेशजनितसंस्कारस्मरणपूर्वकं तद्भजनं कुर्वन्ति, तथैतन्मार्गीया अपि 'स्वधर्मत' इति नामस्मरणपूर्वकसंस्काररूपवरणप्राप्तौ तदनुकरणत्वेनैतद्भजनं कुर्वन्त्वित्याशयेन श्रीमदाचार्यवर्या आहुः **स्वधर्मत** इति । एतत्प्रकारानुसारेण स्वयमव्यावृत्तः सर्वदा । व्यावृत्तिर्व्यवहारः । स तु सन्निपातः, तद्रहितः सन् कृष्णं फलात्मकं सदानन्दवाचकं पूजया श्रवणादिभिरित्यत्र, तया पुष्टिमार्गीयया 'धन्यास्त्वि'ति वाक्यषट्कनिरूपितया, तथा श्रवणादिनवप्रकारकभक्तिभिरपि तत्तद्भावसमाश्रितमेव भजेत्सेवनं कुर्यात्, तदप्यान्तरिकम्, नतु बाह्यमित्यर्थः । अथवा । तासां कामरूपाणि वस्त्राणि गृहीत्वा पूर्वं नीपमारुह्य पश्चात्तत्रैव दानत्वेन तासु यथा भगवत्पूजनत्वम्, तथैवाग्रे स्वातिप्रियोत्तरीयकल्पितासनदानत्वेन ताभिरपि भगवान् पूजित इति लक्ष्यते । अत एव 'तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वर' इत्यत्र तच्छब्दपरामर्शस्यैव तदुद्घाटकत्वमेतत्प्रकारकाचरणं कर्तव्यमित्यर्थः । सर्वदा भावनीय इति संक्षेपः । अतएव व्रतचर्यायां 'प्राग्जन्मपुरुषत्वाख्यधर्मा अपि वयस्यतां । प्राप्ता ये तैः सहागच्छन् संबन्धं सूचयन् हरि'रित्यत्र श्रीमत्प्रभुभिस्तथैवोक्तमिति प्राथमिकसंबन्धस्यैव बीजभावत्वम् ।

ननु ते तु ऋषयो मननशीला मन्त्रद्रष्टारः सर्वात्मना भगवदुक्तसाधनकरणत्वेनैव प्रत्यहं गृहस्थितमेवादृत्य तदाज्ञापालनपूर्वकं भजनं कुर्वन्ति, अयं तु प्राकृतः, कथं तत्साधनाचरणं कर्तुं शक्यत इत्याहुः **व्यावृत्तोपी**ति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

वस्तुतस्त्वयमप्येको बीजदार्ढ्यप्रकारान्तरः, तस्मात्स्वयं व्यावृत्तोपि संसारासक्तः सन्नपि हरौ सर्वदुःखहरणशीले भगवति गजराजप्रास्ताविकतादृक्पराक्रमानुस्मरणपूर्वकं चित्तं संस्थाप्येति शेषः । **सदे**ति कालापरिच्छेदकत्वेनैव श्रवणादिषु नवप्रकारकभक्तिषु तद्वृद्धिप्रकारस्फूर्त्या यतेत् । तद्विषयकं यत्नं कुर्यादित्येतत्प्रकारेणापि सा प्रवृद्धा स्यादिति पूर्वेणान्वयः । ननु पूर्वोक्तप्रकाराचरणेनाग्रे किं साधितमिति प्रेमादीनां प्राप्तिमपि सूचयन्ति **ततः प्रेमे**ति । ततः तद्वृद्ध्यनन्तरं पूर्वोक्ताधिकरणक एव तथात्वेन पल्लवरचनारूपं प्रेमोत्पद्यते, येन भक्तिवल्ली प्रत्यहं प्रतिक्षणं सिञ्चनविषयीक्रियते । तथा आसक्तिर्भावविशेषः । स तु पुष्पागमरूपः । अत्र'शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवे'दिति वाक्योक्तोर्थोऽनुसन्धेयः । तथा सत्येतत्प्रकारकासक्तेः प्रेमोत्तरभावित्वं युक्तमेव । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि तथैवोक्तम् । 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृत'मिति । तथा व्यसनं च येन विना क्षणमपि स्थातुं न शक्यते, तत्तु बीजादारभ्य फलाविष्कारावधि

सर्वत्र भावनीयम् । एवं यदा भवेत्तदा न काप्यनुपपत्तिः । अथवा । अत्र चकारः समुच्चयार्थकः । तथा सति प्राथमिकसंबन्धो बीजभावः । तस्मात्स्वभावतो वृद्धिं प्राप्ता भक्तिवल्ली, तदुद्भूतं प्रेम पल्लवस्थानापन्नम्, तज्जनितासक्तिः पुष्पागमः । ततो व्यसनं च फलत्वेन स्वरूपैकनिष्ठत्वम् । एतेषां बीजत्वजातिविशिष्टसमानाधिकरणत्वेनैकजातीयत्वम् । तथा सति मूलदृढीकरणत्वेनैव सर्वत्र तथात्वमिति भावनीयम् । तदेवाग्रे निरूप्यते बीजं तदुच्यते, शास्त्रे भगवच्छास्त्रे, श्रीभागवतगीतानारदपञ्चरात्रादावपि, यद् दृढं नापि नश्यति, तत्तु प्राथमिकसंबन्धकालीनमित्यध्यवसेयम् ।

अतः परं प्रेमासक्तिभ्यां यज्जातं तदाहुः **स्नेहादिति** ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

अत्र स्नेहपदेन भक्तिरुच्यते । तत्र धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः 'प्रेमे'ति । तेन रागविनाशः स्यात्, भगवत्स्वरूपातिरिक्तवस्तुमात्रेषु यो रागः अनुरञ्जनं तस्य विशेषेण नश्वरत्वेन नाशः अप्रतीतिः स्यात् । तथा आसक्त्यापि गृहारुचिः स्यात् । तत्र 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यत' इति वाक्यात्तादृशासक्त्या परिग्रहाद्यरुचिस्तूचिततरा । अथवा । नैते आत्मसंबन्धिनः, किन्तु देहादीनाम्, प्रत्युत तादृशभावनिरतस्यालौकिकभावविघातका एव, नतु साधकाः, इतोपि तदनासक्तौ तस्य न किमपि बाधकम्, प्रत्युत तथात्वे तथात्वमिति । अग्रिमवाक्ये तथैव निरूप्यते **गृहस्थानां बाधकत्वमिति** । भगवद्विषयकसंस्कारानुभूतकर्तॄणां तु स्त्रीपुत्रादिष्वनात्मत्वं भासत एव । चकाराद्बाधकत्वमपि । तथा सति तत्सङ्गो न विधेय इति तात्पर्यार्थः । अन्यथा व्यसनभाववत्त्वानुपपत्तिः स्यात् । अतस्तस्यैवाग्रे सर्वत्र साधकत्वेनाधिकारी विषयीक्रियते **यदा स्यादिति** ।

यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने भगवति व्यसनं तदेकनिष्ठत्वं पूर्वोक्तविधिना स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, नात्र सन्देहः कार्य इति सिद्धम् । हिशब्दस्तु प्रसिद्धावेव । तथा सति व्यसनं वरणकालीनमेवाभिव्यज्यते । अत एवाग्रे तादृशस्यापि व्यसनभावप्राप्तस्य सततं निरन्तरं गेहस्थानं गृहस्थितिर्विनाशकं विशेषेणोक्तसंस्कारविघातिकेति यावत् । अतस्त्यागपक्षमप्याश्रित्य तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः **त्यागं कृत्वेति** । यत्तु परमकृपाशीलः सर्वात्मना निरुद्धः सन्, अत एव तदर्थार्थैकमानस इति विधेयविशेषणम् । तत्र भगवतो योर्थः प्रयोजनं तदर्थमेव तन्निष्ठमेकं मानसं यस्य । अथवा । भगवदर्थमेव यत्प्रयोजनं तत्रैव मानसिकी प्रवृत्तिर्यस्येति त्यागसांमुख्यम् । अत एवात्र तुशब्दस्तूत्कर्षाधायकः । तद्यथा । व्रजसीमन्तिन्योन्यपूर्वाः सर्वथा त्यक्तुमशक्यानित्यैतादृशानपि पदार्थांस्त्यक्त्वा बीजभावरूपां भक्तिम्, तथैवाग्रे स्वरूपदर्शनस्पर्शनभाषणमिलनादिकमेतासां जातमिति, तथात्रापि य इति सामान्यनिर्देशात् कोपि तदर्थार्थैकमानसः पूर्वोक्ताचरणशीलस्तादृशासक्तिभरेण गृहादित्यागं कृत्वा यतेत्, भगवत्प्राप्तिविषयकमेव यत्नं कुर्यात्, स पूर्वोक्तसामानाधिकरण्येनैव सुदृढां स्नेहरूपाम्, तत्रापि सर्वतोप्यधिकां नवप्रकारकभक्त्यपेक्षयोत्कृष्टत्वेन तादृक्प्रकारकाम् । अत एव 'सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रिति लक्षणत्वेन प्राप्ताम्, अत एव परामुत्कृष्टाम्, यतः साक्षाद्भगवच्चरणारविन्दानुग्रहनिष्ठैकशीला तां लभते, प्राप्नोति, तत्कृताचरणं करोतीत्यर्थः । तथापि त्यागक्रियानौचित्यमेवाहत्याग्रे तद्विषयकबाधमाहुः **त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति** । अत्र साधनदशापन्नत्वेनाधुनिकजीवानां तदपेक्षया न्यूनत्वम्, 'संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूल'मिति प्रकारस्य तत्रैव सिद्धत्वादत्रत्यानां तथाकरणे बाधकबाहुल्यमेव । तत्र हेतुद्वयं निरूप्यते **दुःसंसर्गात्तथान्नतः** । स्वापेक्षया विरुद्धधर्माचरणशीला एव दुष्टाः । तेषां संसर्गात्सहवासकरणत्वात्स्वस्य तदुपार्जितान्नभक्षणाद्वा तथात्वम् । यत एवं बाधकापत्तिस्तत एवाग्रे स्थितिप्रकारः प्रकाश्यते । अतः **स्थेयमिति** । अस्मात्कारणादेव तद्रहिते देशे हरिस्थाने सर्वदुःखहरणशीलस्य तत्तल्लीलास्थाने तदीयैर्भगवत्परैर्भगवदीयैः **सह स्थेयम्** । अथवा । भगवदुपदिष्टस्थाने वृन्दावनादौ स्थितिः कर्तव्या । तत्र तादृशैः सहवासकरणे पूर्वोक्तहेतुद्वयप्रतिबन्धोत्पादकानामनवसरपराहतत्वम् । तत्रापि **अदूरे विप्रकर्षे वेति** । यथोपक्रमे प्रकारद्वयं तथोपसंहारेपि तथात्वं बोध्यते । अत्यागपक्षे तावददूरत्वेनैव स्थितिः कर्तव्या, त्यागपक्षे तु विप्रकर्षेणैवेति योजना । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि पूर्वोक्तव्यवस्थापूर्वकवाक्यद्वयमुक्तम् । अथवा । अदूर इति वाक्यद्वयं प्रतिपक्षे भिन्नतया योजनीयम् । एतत्प्रकारेणैव तत्र स्थेयमित्यग्रे सूच्यते । **यथा चित्तं न दुष्यति** । एतत्प्रकारकस्थितावेव चित्तं न दूषितं भवतीत्यर्थः । अतःपरं पूर्वोक्तरीत्या यावज्जन्मसफलीकरणार्थे भिन्नत्वेन व्यवस्थापूर्वकं साधनद्वयमुच्यते । 'सेवायां वा कथायां वे'त्युक्तौ यथाक्रमा-

नुरोधेनासपूर्वाणां सेवायामिति धात्वर्थस्यानुकूलत्वेन भगवद्भजन एवासक्तिः । सपूर्वाणां तु भगवद्गुणानुवादत्वेन कथायामेव सा । 'तव कथामृतमि'त्यादिवाक्येषु तथा निरूपितत्वात् । उभयत्र वाशब्दो विकल्पत्वेन तन्मात्रकं बोधयति, अन्यथा एकेनैव तेन चारितार्थ्ये सति द्विरवनिरूपणत्वानतिप्रयोजनत्वात् । अतः श्रीमदाचार्यवर्याः स्वकीयान्प्रति निरुपधि-करुणावत्त्वेन स्वानुभवपूर्वकोभयपक्षीयासक्तिर्निरोधस्तं फलत्वेन प्रतिपादयन्ति **सेवायां वा कथायां वेति** । अनेन सेवाकथयोः स्वरूपात्मकत्वं सूचितम् । आसक्तिभ्रमन्यायेन तथोक्तिः । अथवा विकल्पत्वेन यस्येति सामान्यनिर्देशात्परमभाग्यवतस्तत्कृताचरणशीलस्य आसक्तिर्निरोधे दृढ इति प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकत्वेन संभवेत्तस्य यावज्जीवं शरीरस्थितिपर्यन्तं पूर्वोक्तरीत्या नाशः क्वापि कस्मिन्नपि देशे समये वा न दृश्यत इति शेषः । 'स्वानुभूत-प्रकारज्ञापनाय मे मतिरि'त्युक्तवन्तः । अतः परमेतत्प्रकारकाचरणकर्तुः कदापि स्थितिपक्षे बाधसंभावनायां जातायामपि स्वबुद्ध्यान्यत्रैव मया स्थेयमिति पक्षो निराक्रियते । बाधसम्भावनायां तु एकान्ते वासो नोचितः । वैराग्यवशान्महारण्यादौ स्थितिर्न कर्तव्या । किन्तु यत्र साक्षाद्भगवदाविर्भावः स्वहृदये स्वानुभूतो भवति, तत्रैव स्थेयमि-त्येकान्तपदतात्पर्यम् । अत एव नेष्यते नेच्छाविषयीक्रियते । कुतस्तत्र हेतुरुच्यते **हरिस्त्विति** । यथा व्रजरत्नाः सर्वतो भगवता रक्षिताः, 'विषजलाप्यया'दितिवाक्य-षट्कथनात्, तथात्मविषयिणी या रक्षा तां सर्वतः पूर्वोक्तदुष्टसमूहादपि करिष्यत्येव । अत्रापि स्वमत्यैवोक्तं न संशय इति । संशयः सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । हरिस्त्वस्या-न्यथानुपपत्त्यैव तथा निश्चीयते । तुशब्दस्यापि तथैवोद्घाटकत्वम् ॥

अतः परमुपसंहरन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं श्रीभागवतभगवद्वाक्यनारदपञ्चरात्रादिकं तत्त भग-वत्कथितमुपदिष्टमपि गूढत्वेन यत्तत्त्वं 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेदे'त्यत्र यथोक्तं तन्मया तदुक्तप्रकारेणैव निरूपितम् । ब्रह्मसंबन्धकरणादित्याद्याज्ञाविषयत्वात् । एतदध्ययनकर्तॄ-णामपि पूर्वोक्तसिद्धिरित्याशयेनोच्यते **य एतत्समधीयीतेति** । य इति समान्योक्त्या कोप्येतत्सृष्टिगतभाग्यशीलः परमादरेणार्थानुसन्धानपूर्वकं तदुभयाचरणकर्तृत्वेनैतदध्ययनं करोतीति । तत्रापि नियमनैयत्येन सम्यक्त्वम् । तेन तस्यापि दृढा रतिर्भगवद्वि[illegible]को भावः स सुदृढः स्यादित्यलं विस्तरेण ॥

श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहादेव निर्णयः । कृतस्तदुक्तवाक्यानां सुज्ञानां तोषसिद्धये ॥ १

इति श्रीद्वारकेशविरचितभक्तिवार्धिनीप्रकाशः ।
